आचार मीमांसा

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : डीडवाना–कुचामन(राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

पंचम संस्करण : जून 2024 (500 प्रतियां)

मूल्य : एक सौ साठ रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

JAIN DARSHAN: MANAN MIMANSA (ACHAR MIMANSA) - By Acharya Mahapragya ₹ 160/-

पुरोवाक्

हमारी दुनिया में दो ही तत्त्व विद्यमान हैं–जीव और अजीव। इस तत्त्वद्वयी का निरूपण ज्ञानी पुरुषों ने अपनी-अपनी भाषा और शैली में किया है। इस तत्त्वद्वयी के निरूपण के आधार पर अनेक दर्शन अस्तित्व में आ गए। उन विभिन्न दर्शनों में एक है जैन दर्शन। इस दर्शन को प्रस्तुत करने के लिए अनेक जैन आचार्यों और मनीषियों ने अपनी प्रज्ञा का उपयोग किया है।

परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक मनीषी संत थे। उनके अदुष्य वैदुष्य ने अनेक-अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। उनमें से एक ग्रंथ हैं–'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' मेरी दृष्टि में जैन दर्शन और जैन धर्म को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने वाला यह एक सामादरणीय ग्रंथ है।

प्रस्तुत ग्रंथ अनेक विभागों से समन्वित है। उसका एक विभाग है आचार मीमांसा। इस पुस्तक में आचार मिमांसा का विभाग पाठक को प्राप्त हो सकेगा। आचार-मीमांसा के विद्यार्थी इस किताब के अध्ययन से अपनी ज्ञान-पिपासा को कुछ शान्त करने का, कुछ और जगाने का सुंदर अवसर प्राप्त करें।

शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

कोयम्बत्तूर
6 फरवरी 2019

आचार-मीमांसा

1. साधना-पथ

1. अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद
2. धर्म
3. धर्म की शाश्वत धारा
   - ✻ सर्वोदय और आत्मोदय
4. शील और श्रुत का समन्वय
5. संसार और मोक्ष
6. सम्यक् दर्शन
   - ✻ सम्यक् दर्शन और मिथ्यादर्शन
   - ✻ नैसर्गिक और आधिगमिक
7. रुचि
8. सम्यक् दर्शन की प्रक्रिया
9. आचार और अतिचार
10. पांच अतिचार
11. सम्यक् दर्शन की व्यावहारिक पहचान
   - ✻ तीन लक्षण
   - ✻ पांच लक्षण
   - ✻ सम्यक् दर्शन का फल
   - ✻ महत्त्व
12. सत्य क्या है?
   - ✻ साध्य सत्य

2. मोक्ष के साधक—बाधक तत्त्व

1. नव तत्त्व
   - ✻ पहला वर्ग
   - ✻ दूसरा वर्ग
   - ✻ तीसरा वर्ग
   - ✻ चौथा वर्ग
2. साधक तत्त्व
   - ✻ ध्यान
3. निर्वाण-मोक्ष
4. ईश्वर
5. अध्यात्म-विकास की भूमिकाएं
6. सम्यक्दर्शन
7. देश विरति
8. सर्व विरति
9. अप्रमाद
10. श्रेणी आरोह
11. केवली
12. अयोग दशा और मोक्ष
13. महाव्रत और अणुव्रत
14. ब्रह्मचर्य का साधना मार्ग
15. साधना के स्तर
16. साधना के सूत्र
   - ✻ अप्रमाद
   - ✻ उपशम
   - ✻ साम्य-योग
   - ✻ तितिक्षा
   - ✻ अभय
   - ✻ आत्मानुशासन
   - ✻ संवर और निर्जरा
17. साधना का मानदंड
18. गूढ़वाद

19. अक्रियावाद
20. व्यक्तिवाद और समष्टिवाद
3. श्रमण संस्कृति और श्रामण्य
4. जातिवाद
1. जातिवाद : दो धाराएं
2. जाति तात्त्विक है?
3. मनुष्य जाति एक है
4. उच्चता और नीचता
5. जाति परिवर्तनशील है
6. जाति-गर्व तुच्छता का अभियान
7. जाति-गर्व का परिणाम
8. समता धर्म में जातिवाद का अनवकाश
5. जैन दर्शन : वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में
1. सब जीव समान हैं
2. सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टिकोण
3. व्यक्ति और समुदाय
4. अंतर्राष्ट्रीय निरपेक्षता
5. समन्वय की दिशा में प्रगति
6. सापेक्षता के सूत्र
7. सांप्रदायिक सापेक्षता
8. सामंजस्य का आधार–मध्यम मार्ग
9. शांति और समन्वय
10. सह-अस्तित्व की धारा
11. सह-अस्तित्व का आधार–संयम
12. स्वत्व की मर्यादा
13. निष्कर्ष
14 निरपेक्ष दृष्टिकोण

1. साधना-पथ

अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

हम क्या हैं? हमें क्या करना है? हम कहां से आते हैं और कहां चले जाते हैं? जैन दर्शन इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। इनके समाधान के साथ–साथ हमें यह निर्णय कर लेना होगा कि जगत का स्वरूप क्या है और उसमें हमारा क्या स्थान है?

हमें अपनी जानकारी के लिए आत्मा, धर्म और कर्म की समस्याओं पर विचार करना होगा। आत्मा की स्वाभाविक या विशुद्ध दशा धर्म है। उसके दो प्रवाह हैं–'संवर' और 'निर्जरा'। 'संवर' आत्मा की वह दशा है, जिसमें विजातीय तत्त्व (कर्म–पुद्‌गल) का उसके साथ संश्लेष होना छूट जाता है। पहले लगे हुए विजातीय तत्त्व का आत्मा से विश्लेष या विसंबंध होता है, वह दशा है 'निर्जरा'। विजातीय तत्त्व थोड़ा अलग होता है, वह आंशिक या अपूर्ण निर्जरा है। विजातीय तत्त्व सर्वथा अलग हो जाता है, उसका नाम है मोक्ष।

आत्मा का अपना रूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा बनती है, वह 'वैभाविक' दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं–आस्रव, बंध, पुण्य और पाप। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व का एक रूप बनता है। उसे बंध कहा जा सकता है। इसके दो रूप हैं–शुभ और अशुभ। शुभ पुद्‌गल-स्कंध (पुण्य) जब आत्मा पर प्रभाव डालते हैं तब उसे पौद्‌गलिक सुख की अनुभूति होती है। अशुभ पुद्‌गल-स्कंधों (पाप) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। उससे अप्रिय, अमनोज्ञ भाव बनते हैं और दुःख की अनुभूति होती है। आत्मा में विजातीय तत्त्व के स्वीकरण का जो हेतु है, उसकी संज्ञा 'आस्रव' है।

विभाव से स्वभाव में आने के लिए ये तत्त्व उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता के बारे में विचार करना उपयोगितावाद है।

१. गति है, गति का हेतु या उपकारक 'धर्म' नामक द्रव्य है।

२. स्थिति है, स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्म' नामक द्रव्य है।

३. आधार है, आधार का हेतु या उपकारक 'आकाश' नामक द्रव्य है।

४. परिवर्तन है, परिवर्तन का हेतु या उपकारक 'काल' तत्त्व है।

५. जो मूर्त है, वह 'पुद्‌गल' द्रव्य है।

६. जिसमें चैतन्य है, वह 'जीव' है।

इनकी क्रिया या उपकारों की जो समष्टि है, वह जगत है। यह भी उपयोगितावाद है।

पदार्थों के अस्तित्व के बारे में विचार करना अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद कहलाता है। अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थ दो हैं–चेतन और अचेतन।

उपयोगितावाद के दो रूप हैं–आध्यात्मिक और जागतिक। नव तत्त्व की व्यवस्था आत्म-कल्याण के लक्ष्य से की हुई है, इसलिए यह आध्यात्मिक है। यह आत्म-मुक्ति के साधक-बाधक तत्त्वों का विचार है। कर्मबद्ध आत्मा को जीव और कर्ममुक्त आत्मा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष साध्य है। जीव के वहां तक पहुंचने में पुण्य, पाप, बंध और आस्रव–ये चार तत्त्व बाधक हैं। संवर और निर्जरा–ये दो तत्त्व साधक हैं। अजीव उसका प्रतिपक्षी तत्त्व है।

षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व के सहज संचालन या सहज नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह जानकारी हमें इससे मिलती है।

वास्तविकतावाद में पदार्थ के उपयोग पर कोई विचार नहीं होता, केवल उसके अस्तित्व पर ही विचार होता है, इसलिए वह 'पदार्थवाद' या 'आधिभौतिकवाद' कहलाता है।

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोग–दोनों के आधार पर हुआ है। अस्तित्व और उपयोग दोनों प्रमाण द्वारा सिद्ध किए जाते हैं। इसलिए प्रमाण, न्याय या तर्क के विकास के आधार भी ये ही दोनों हैं।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं–तर्क्य (हेतुगम्य) और अतर्क्य (हेतु–अगम्य)। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है–प्रमाणमीमांसा। तर्कशास्त्र इससे भिन्न नहीं है। वह ज्ञान का ही एक अंग है। प्रमाण दो हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। तर्कगम्य पदार्थों की जानकारी के लिए जो अनुमान है, वह परोक्ष प्रमाण के पांच रूपों में से एक है।

पूर्व धारणा की यथार्थ स्मृति आती है, उसे तर्क द्वारा साधने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप में सत्य है, प्रमाण है। यथार्थ पहचान (प्रत्यभिज्ञा) के लिए भी यही बात है। मैं जब अपने पूर्व परिचित व्यक्ति को साक्षात् देखता हूं, तब मुझे उसे जानने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं होती।

मैं जिसके यथार्थ ज्ञान और यथार्थ वाणी का अनुभव कर चुका, उसकी वाणी को प्रमाण मानते समय मुझे हेतु नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा। यथार्थ जाननेवाला भी कभी और कहीं भूल कर सकता है, यथार्थ कहनेवाला भी कभी और कहीं असत्य बोल सकता है–इस संभावना से यदि मैं उसकी प्रत्येक वाणी को तर्क की कसौटी पर कसे बिना प्रमाण न मानूं तो वह मेरी भूल होगी। मेरा विश्वासी मुझे ठगना चाहे, वहां मेरे लिए वह प्रमाणाभास होगा, किंतु तर्क का सहारा लिए बिना कहीं भी वह मेरे लिए प्रमाण न बने, यह कैसे माना जाए? यदि यह न हो तो जगत का अधिकांश व्यवहार ही न चले। व्यवहार में जहां व्यावहारिक आप्त की स्थिति है, वहां परमार्थ में पारमार्थिक आप्त–वीतराग की, किंतु तर्क से आगे प्रामाण्य है अवश्य।

आंख से जो मैं देखता हूं, कान से जो सुनता हूं, उसके लिए मुझे तर्क नहीं चाहिए।

सत्य आंख और कान से परे भी है। वहां तर्क की पहुंच ही नहीं है।

तर्क का क्षेत्र केवल कार्य–कारण की नियमबद्धता, दो वस्तुओं का निश्चित साहचर्य है। एक के बाद दूसरे के आने का नियम और व्याप्य में व्यापक के रहने का नियम है। एक शब्द में वह व्याप्ति है। वह सार्वदिक् और सार्वत्रिक होती है। वह अनेक काल और अनेक देश के अनेक व्यक्तियों के समान अनुभव द्वारा सृष्ट नियम है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण परंपरा से ऊंचा या एकाधिकार स्थान नहीं दिया जाता। वह अतर्क्य–आगमगम्य होता है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुंचकर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है–आत्मा का पूर्ण विकास या चैतन्य का निर्द्वंद्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियों से मुक्त हो, चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधना है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस–इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से अनेक रूप हैं, पर वह सब विस्तार है। संक्षेप में आत्मरमण ही धर्म है।

ज्ञानमय और चारित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपों में बंट जाता है–ज्ञान और चारित्र।

ज्ञान के दो पहलू हैं–दर्शन और जानकारी। सत्य का दर्शन हो, तभी सत्य का ज्ञान हो सकता है और तभी उसका स्वीकरण हो सकता है। इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं–१. दर्शन २. ज्ञान ३. चारित्र।

चारित्र के दो प्रकार हैं–१. संवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)। २. निर्जरा (अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन)। इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते हैं–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्रधर्म के दस प्रकार भी होते हैं–१. क्षमा २. मुक्ति ३. आर्जव ४. मार्दव ५. लाघव ६. सत्य ७. संयम ८. तप ९. त्याग १०. ब्रह्मचर्य।

इनमें सर्वाधिक प्रयोजकता रत्नत्रयी ज्ञान, दर्शन और चारित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष–मार्ग) की आराधना करनेवाला ही मोक्षगामी होता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का त्रिवेणी–संगम प्राणिमात्र में होता है, पर उससे साध्य सिद्ध नहीं होता। ये तीनों यथार्थ और अयथार्थ–दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस् की साधना यथार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से होती है।

साधना की दृष्टि से सम्यक् दर्शन का स्थान पहला है, सम्यक् ज्ञान का दूसरा और सम्यक् चारित्र का तीसरा। दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चारित्र, चारित्र के बिना कर्ममोक्ष और कर्ममोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।[१] जब ये तीनों पूर्ण होते हैं, तब साध्य सिद्ध हो जाता है, आत्मा कर्ममुक्त हो परम आत्मा बन जाता है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।३० : नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

महात्मा बुद्ध ने तपस्या की उपेक्षा की। ध्यान को ही निर्वाण का मुख्य साधन माना। भगवान महावीर ने ध्यान और तपस्या–दोनों को स्थान दिया। ध्यान भी तपस्या है, किंतु महावीर ने आहार त्याग को भी गौण नहीं किया। उसका जैन साधकों में पर्याप्त विकास हुआ।

तपस्या आत्म-शुद्धि के लिए है। इसीलिए तपस्या की मर्यादा यही है कि वह जब तक इन्द्रिय और मानस विजय की साधक रहे, तब तक की जाए। तपस्या कितनी लंबी हो–इसका मानदंड अपनी-अपनी शक्ति और विरक्ति है। मन खिन्न न हो, आर्त्तध्यान न बढ़े, तब तक तपस्या हो–यही उसकी मर्यादा है। विरक्तिकाल में उपवास से अनशन तक की तपस्या आदेय है। उसके बिना वह आत्मवंचना या आत्महत्या का साधन बन जाती है।

धर्म की शाश्वत धारा

इस विश्व में कुछ तत्त्व शाश्वत हैं और कुछ अशाश्वत। धर्म शाश्वत के संगीत की मधुर लय है। महावीर ने शाश्वत सत्यों की व्याख्या शाश्वतधर्म के माध्यम से की और सामयिक सत्यों की व्याख्या सामयिक धर्म के माध्यम से। महावीर की भाषा में ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म–ये सामयिक धर्म हैं। इनके द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्र की परिवर्तनशील व्यवस्थाओं की व्याख्या होती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएं स्थायी नहीं होतीं। वे देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। इसीलिए वे किसी शाश्वत नियम के द्वारा अनुशासित नहीं हो सकतीं। जैन धर्म में सामाजिक व्यवस्था को अनुशासित करने का कोई प्रत्यक्ष नियम नहीं है। कुछ लोग इसे धर्म की अपूर्णता मानते हैं। मैं इसे यथार्थ के अधिक निकट मानता हूं। समाज, अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करना समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री का कार्य है। उनके कार्यों में धर्म का हस्तक्षेप क्यों होना चाहिए? धर्म की अपनी मर्यादा है। उनकी अपनी मर्यादा है। सब अपनी-अपनी मर्यादा में कार्य करें, तभी सबकी व्यवस्था सुसंपादित हो सकती है। महावीर से पूछा गया–'भंते! शाश्वत धर्म क्या है?' भगवान ने कहा–'किसी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परितप्त मत करो, अधीन मत करो–यह शाश्वत धर्म है।' फलित की भाषा में शाश्वत धर्म है–अहिंसा।

सर्वोदय और आत्मोदय

अहिंसा के दो पहलू हैं–सर्वोदय और आत्मोदय। सर्वोदय उसका व्यावहारिक पहलू है और उसका नैश्चयिक पहलू है आत्मोदय। अहिंसा की मर्यादा में कोई भी जीव हिंसनीय नहीं है। सब जीव अहिंस्य हैं, इसलिए वह सर्वोदय है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसी आशय से भगवान महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा है–

सर्वान्तवद् तद्गुण–मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यश्च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।[१]

अहिंसा की आंतरिक परिणति आत्मा में होती है, इसलिए वह आत्मोदय है। जैनधर्म के केन्द्र में आत्मा है और आत्मा की स्वाभाविक परिणति ही अहिंसा है।

---

१. युक्त्यनुशासन, ६१

शील और श्रुत का समन्वय

एक समय भगवान राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान को वंदना कर बोले–'भगवन्! कुछ दार्शनिक कहते हैं–

१. शील ही श्रेय है।

२. कुछ कहते हैं–श्रुत ही श्रेय है।

३. कुछ कहते हैं–शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है।

४. कुछ कहते हैं–न श्रुत श्रेय है और न शील श्रेय है।

इनमें कौन–सा अभिमत ठीक है भगवन्?'

भगवान बोले–'गौतम! वे दार्शनिक जो कहते हैं, वह एकांतवाद है, इसलिए अपूर्ण है। मैं इस प्रकार कहता हूं–

चार प्रकार के पुरुष होते हैं–

१. शीलसंपन्न, श्रुतसंपन्न नहीं।

२. श्रुतसंपन्न, शीलसंपन्न नहीं।

३. शीलसंपन्न और श्रुतसंपन्न।

४. न शीलसंपन्न और न श्रुतसंपन्न।

पहला पुरुष शीलसंपन्न है–उपरत (पाप से निवृत्त) है, किंतु अश्रुतवान है–अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्षमार्ग का देश आराधक है।

दूसरा श्रुतसंपन्न है–विज्ञातधर्मा है, किंतु शीलसंपन्न नहीं–उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है।

तीसरा शीलवान भी है और श्रुतवान भी है, इसलिए वह सर्व आराधक है।

चौथा शीलवान भी नहीं है और श्रुतवान भी नहीं है, इसलिए वह सर्वविराधक है।'[१]

भगवान ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।

बंधन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अंतर्-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं–१. ज्ञान आराधना, २. दर्शन आराधना, ३. चारित्र आराधना।[२] इनमें से प्रत्येक के तीन–तीन प्रकार होते हैं–

१. ज्ञान आराधना–उत्कृष्ट–प्रकृष्ट प्रयत्न, मध्यम-मध्यम प्रयत्न, जघन्य-अल्पतम प्रयत्न।

२. दर्शन आराधना–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

३. चरित्र आराधना–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

---

१. भगवई, ८/४५०   २. वही, ८।४५१

आत्मा की योग्यता के विविध स्तर होते हैं। अतएव तीनों आराधनाओं का प्रयत्न सम नहीं होता। उनका तरतमभाव निम्न यंत्र से देखिए–

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	दर्शन का अल्पतम प्रयत्न	चारित्र का उत्कृष्ट प्रयत्न	चारित्र का मध्यम प्रयत्न	चारित्र का अल्पतम प्रयत्न
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है		है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है				है	है	है
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है					

यह आंतरिक वृत्तियों का बड़ा ही सुंदर और सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के तारतम्य को समझने की यह पूर्णदृष्टि है।

संसार और मोक्ष

जैन-दृष्टि के अनुसार राग-द्वेष ही संसार है। ये दोनों कर्मबीज हैं।[१] ये दोनों मोह से पैदा होते हैं।[२] मोह के दो भेद हैं–दर्शन मोह और चारित्र मोह। दर्शन मोह तात्त्विक दृष्टि का विपर्यास है। यह संसार-भ्रमण की मूल जड़ है। सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यक् चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता[३]।

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२/७ : रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

२. वही, ३२/७ : कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।

३. वही, २८/३०

चारित्र मोह आचरण की शुद्धि नहीं होने देता। इससे राग-द्वेष तीव्र बनते हैं, राग-द्वेष से कर्म और कर्म से संसार–इस प्रकार यह चक्र निरंतर घूमता रहता है।

बौद्ध दर्शन भी संसार का मूल राग-द्वेष और मोह या अविद्या–इन्हीं को मानता है।[१] नैयायिक भी राग-द्वेष और मोह या मिथ्याज्ञान को संसार बीज मानते हैं।[२] सांख्य पांच विपर्यय और पतंजलि क्लेशों को संसार का मूल मानते हैं।[३] संसार प्रकृति है, जो प्रीति-अप्रीति और विषाद या मोह धर्म वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुणयुक्त है–त्रिगुणात्मिका है।

प्रायः सभी दर्शन सम्यक् ज्ञान या सम्यक् दर्शन को मुक्ति का मुख्य कारण मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में क्षणभंगुरता का ज्ञान या चार आर्य-सत्यों का ज्ञान विद्या या सम्यक् दर्शन है। नैयायिक तत्त्व ज्ञान[४], सांख्य[५] और योगदर्शन[६] भेद या विवेकख्याति को सम्यक् दर्शन मानते हैं। जैनदृष्टि के अनुसार तत्त्वों के प्रति यथार्थ रुचि जो होती है, वह सम्यक् दर्शन है।[७]

सम्यक् दर्शन

एक चक्षुष्मान वह होता है जो रूप और संस्थान को ज्ञेयदृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान वह होता है जो वस्तु की ज्ञेय, हेय और उपादेय दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल दर्शन है, दूसरा बहिर्दर्शन और तीसरा अंतर्दर्शन।

स्थूल दर्शन जगत का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से संबंधित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अंतर्दर्शन मोह के पुद्गलों से ढंका होता है, तब वह सही नहीं होता, इसलिए मिथ्या दर्शन कहलाता है। तीव्र कषाय के उदय में अंतर्दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा सम्यक् दर्शन है।

सम्यक् दर्शन और मिथ्या दर्शन

मिथ्या दर्शन के दस प्रकार हैं–१. अधर्म में धर्म संज्ञा २. धर्म में अधर्म संज्ञा ३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा ४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा ५. अजीव में जीव संज्ञा ६. जीव में अजीव संज्ञा ७. असाधु में साधु संज्ञा ८. साधु में असाधु संज्ञा ९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा १०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

सम्यक् दर्शन के दस प्रकार हैं–

१. अधर्म में अधर्म संज्ञा २. धर्म में धर्म संज्ञा ३. अमार्ग में अमार्ग संज्ञा ४. मार्ग में मार्ग संज्ञा ५. अजीव में अजीव संज्ञा ६. जीव में जीव संज्ञा ७. असाधु में असाधु संज्ञा ८. साधु में साधु संज्ञा ९. अमुक्त में अमुक्त संज्ञा १०. मुक्त में मुक्त संज्ञा।

---

१. बुद्धवचन पृ. २२
२. न्यायसूत्र ४/१/३-६
३. सांख्यकारिका ४४
४. न्यायसूत्र ४/१/३-६
५. सांख्यकारिका ६४
६.योगदर्शन २/१३
७. उत्तरज्झयणाणि २८/१५

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म-अधर्म, मार्ग-अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त–अमुक्त का संज्ञान साध्य और असाध्य का विवेक है।

नैसर्गिक और आधिगमिक

सम्यक् दर्शन की प्राप्ति दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय होने से होती है। इस दृष्टि का प्राप्ति हेतु दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय है। यह विलय निसर्गजन्य और ज्ञानजन्य– दोनों प्रकार का होता है। आचरण की शुद्धि होते–होते दर्शन मोह के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। वैसा होने पर जो यथार्थ दर्शन होता है, वह नैसर्गिक सम्यक् दर्शन है।

श्रवण, अध्ययन, वाचन या उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण होता है, वह आधिगमिक सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का मुख्य हेतु (दर्शन मोह का विलय) दोनों में समान है। इनका भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से होता है। इनकी तुलना सहज प्रतिभा और अभ्यास-लब्ध ज्ञान से की जा सकती है।

पथिक चला। मार्ग हाथ नहीं लगा। इधर-उधर भटकता रहा। आखिर अपने आप पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक मार्ग लाभ है।

दूसरा पथभ्रष्ट व्यक्ति इधर-उधर भटकता रहा, मार्ग नहीं मिला। इतने में दूसरा व्यक्ति दीखा। उससे पूछा और मार्ग मिल गया। यह आधिगमिक मार्ग लाभ है।

रोग हुआ। दवा नहीं ली। रोग की स्थिति पकी। वह मिट गया। आरोग्य हुआ। यह नैसर्गिक आरोग्य लाभ है।

रोग हुआ। सहा नहीं गया। वैद्य के पास गया। दवा ली। वह मिट गया। यह प्रायोगिक आरोग्य लाभ है।

अनादि काल से जीव संसार में भ्रमण करता रहा। सम्यक् दर्शन नहीं हुआ–आत्मविकास का मार्ग नहीं मिला। संसार भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल बनता है, वैसे थपेड़े खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्मदर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यक् दर्शन है।

मनुष्य कष्टों से तिलमिला उठा। त्रिविध ताप से संतप्त हो गया। शांति का उपाय नहीं सुझा। मार्ग द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्मदर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यक् दर्शन है।

रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि–यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिंतन, निदिध्यासन–ये रुचि के कारण हैं, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता, यह भी माना गया

है। इनमें पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टिबिंदु से रुचि या सम्यक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपंच जो है, वह सिर्फ उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी बाहरी निमित्त के बिना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो बाहरी निमित्त (उपदेश, अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है, इसलिए सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। जहां मिथ्या दर्शन है, वहां मिथ्या ज्ञान और जहां सम्यक् दर्शन है, वहां सम्यक् ज्ञान–ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता है। उसमें पौर्वापर्य नहीं है। वास्तविक कार्य-कारण भाव भी नहीं है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण का विलय और दर्शन का कारण दर्शन मोह का विलय है। इसमें साहचर्य भाव है।

मिथ्यादृष्टि के रहते बुद्धि में सम्यक् भाव नहीं आता। यह प्रतिबंध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यक् दृष्टि को सम्यक् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि-शुद्धि श्रद्धा पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। बुद्धि-शुद्धि ज्ञानपक्ष है। उसकी मर्यादा है–सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण पक्ष है। उसका विषय है–सत्य का आचरण। तीनों मर्यादित हैं, इसलिए असहाय हैं। केवल रुचि या आस्था बंध होने मात्र से जानकारी नहीं होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। जानने मात्र से साध्य नहीं मिलता, इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। संक्षेप में, रुचि ज्ञानसापेक्ष है और ज्ञान क्रियासापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यक् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनों रुचि सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है, इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति में कहा जा सकता है–रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढ़ता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों आपस में सहयोगी, पोषक और उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए गए हैं[१]–१. निसर्ग रुचि २. अधिगम रुचि ३. आज्ञा रुचि ४. सूत्र रुचि ५. बीज रुचि ६. अभिगम रुचि ७. विस्तार रुचि ८. क्रिया रुचि ९. संक्षेप रुचि १०. धर्म रुचि।

१. जिस व्यक्ति को वीतराग प्ररूपित चार तथ्यों–बंध, बंध हेतु, मोक्ष और मोक्ष–हेतु पर सहज श्रद्धा होती है, यह निसर्ग रुचि है।

२. सत्य की वह श्रद्धा जो दूसरों के उपदेश से मिलती है, वह अधिगम रुचि या उपदेश रुचि है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि २८/१६–२७

३. जिसमें राग, द्वेष, मोह, अज्ञान की कमी होती है और दुराग्रह से दूर रहने के कारण वीतराग की आज्ञा को सहज स्वीकार करता है, उसकी श्रद्धा आज्ञा रुचि है।

४. सूत्र पढ़ने से जिसे श्रद्धा-लाभ होता है, वह सूत्र रुचि है।

५. थोड़ा जानने मात्र से जो रुचि फैल जाती है, वह बीज रुचि है।

६. अर्थ सहित विशाल श्रुतराशि को पाने की श्रद्धा अभिगम रुचि है।

७. सत्य के सब पहलुओं को पकड़नेवाली सर्वांगीण दृष्टि विस्तार रुचि है।

८. क्रिया—आचार की निष्ठा क्रिया रुचि है।

९. जो व्यक्ति असत् मतवाद में फंसा हुआ भी नहीं है और सत्यवाद में विशारद भी नहीं है, उसकी सम्यक् दृष्टि को संक्षेप रुचि कहा जाता है।

१०. धर्म (श्रुत और चारित्र) में जो आस्था होती है, वह धर्म रुचि है।

प्राणिमात्र में मिलने वाली योग्यता के तरतमभाव और उसके कारण होने वाले रुचि वैचित्र्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है।

सम्यक् दर्शन की प्रक्रिया

सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं—

१. दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्ण उपशमन। इससे औपशमिक सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है।

२. दर्शनमोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय। इससे क्षायोपशमिक सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है।

३. दर्शनमोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय। इससे क्षायिक सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है।

आचार और अतिचार

सम्यक्दर्शन में पोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यक् दर्शन का स्वरूप नहीं हैं।

सम्यक्दर्शन के आचार आठ हैं[१]—

१. निःशंकित—सत्य में निश्चित आस्था।

२. निष्कांक्षित—मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।

३. निर्विचिकित्सा—सत्याचरण के फल में विश्वास।

४. अमूढ़दृष्टि—असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।

५. उपबृंहण—आत्मगुण की वृद्धि।

६. स्थिरीकरण—सत्य से डगमगा जाए, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।

---

१. (क) उत्तरज्झयणाणि २८।३१ (ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार १।११।१८

७. वात्सल्य–सत्य धर्मों के प्रति सम्मान भावना, सत्याचरण का सहयोग।

८. प्रभावना–प्रभावक ढ़ंग से सत्य के माहात्म्य का प्रकाशन।

पांच अतिचार

१. शंका–सत्य में संदेह।

२. कांक्षा–मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा।

३. विचिकित्सा–सत्याचरण की फलप्राप्ति में संदेह।

४. परपाषंड प्रशंसा–मिथ्या सिद्धांत की प्रशंसा।

५. परपाषंड संस्तव–मिथ्यावाद का परिचय।

सम्यक् दर्शन की व्यावहारिक पहचान

सम्यक् दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, फिर भी उसकी पहचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण बतलाए हैं–

तीन लक्षण

१. परमार्थ संस्तव–परम सत्य के अन्वेषण की रुचि।

२. सुदृढ़ परमार्थ सेवन–परम सत्य के उपासक का संसर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

३. कुदर्शन वर्जना–कुमार्ग से दूर रहने की दृढ़ आस्था।

सत्यान्वेषी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना जा सकता है कि वह सम्यग् दर्शनी पुरुष है।

पांच लक्षण

१. शम–शांति।

२. संवेग–मुमुक्षा, मुक्त होने की भावना।

३. निर्वेद–अनासक्ति।

४. अनुकंपा–प्राणिमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूतमैत्री, आत्मौपम्यभाव।

५. आस्तिक्य–सत्यनिष्ठा।

सम्यक् दर्शन का फल

कषाय की मंदता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, नास्तिकता से आस्तिकता की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्षी हो जाता है।[१]

गौतम ने पूछा–'भगवन्! दर्शन-संपन्नता का क्या लाभ है?'

---

१. आवश्यक सूत्र

भगवान ने कहा–'गौतम! दर्शन संपदा से विपरीत दर्शन का अंत होता है। दर्शन संपन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यक् दर्शी देवगति और मनुष्यगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु बंध नहीं करता।'[१]

महत्त्व

भगवान महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी संपदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैनधर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जातिमद से मदोन्मत्त बने लोग समानधर्मी भाइयों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यक् दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य समन्तभद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा–'जो धार्मिक व्यक्ति १. जाति, २. कुल, ३. बल, ४. रूप, ५. श्रुत, ६. तप, ७. ऐश्वर्य, ८. लाभ–इन आठ मदों से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्मधर्म का अनादर करता है।' सम्यक् दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। 'सम्यक् दर्शन की संपदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढंकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुंज ही रहता है।'[२]

आचार्य भिक्षु ने कहा–'वे व्यक्ति विरले होते हैं, जिनके घट में सम्यक्त्व रम रहा हो। जिसके हृदय में सम्यक्त्व सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अंधकार चला जाता है।'

'सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चंदन नहीं होता, रत्न राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प मणिधर नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष-शक्ति) धारक नहीं होते, बंधनमुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह केसरी नहीं होते, सभी साधु साधु नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यक् दर्शी नहीं होते। तत्त्व का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। सम्यक् दर्शनी पुरुष का कषाय मंद हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।'

सत्य क्या है?

जो है, वही सत्य है, जो नहीं है, वह असत्य है। यह अस्तित्व सत्य, स्वरूप सत्य या ज्ञेय सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज, शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु, परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा, आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गंध, रस और स्पर्शवाला अविभाज्य पुद्‌गल–यह परमाणु का सहज रूप सत्य है। बहुत सारे

---

१. भगवई ३०।१९ : मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार २८ : सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गरान्तरौजसम्॥

परमाणु मिलते हैं, स्कंध बन जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक सत्य) नहीं है। परमाणु दशा में परमाणु सत्य है। भूत, भविष्यत्कालीन स्कंध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।

आत्मा शरीर दशा में अर्ध-सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप है–अनंत ज्ञान, अनंत आनंद, अनंत वीर्य और अरूप। सरूप आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है। अरूप आत्मा पूर्ण सत्य है। धर्म, अधर्म और आकाश–इन तीनों तत्त्वों का वैभाविक रूपांतर नहीं होता। ये सदा अपने रूप में ही रहते हैं, इसलिए पूर्ण सत्य हैं।

साध्य सत्य

साध्य सत्य स्वरूप सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु सत्य व्यापक है। परमाणु में ज्ञान नहीं होता, अतः उसके लिए कुछ साध्य भी नहीं होता। वह स्वाभाविक काल मर्यादा के अनुसार कभी स्कंध में जुड़ जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा चैतन्यमय तत्त्व है। शरीर दशा में ज्ञान, आनंद और वीर्य का पूर्ण विकास उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह साधन सत्य होता है और उसके मिलने पर वह स्वरूप सत्य के रूप में बदल जाता है।

साध्य काल में मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध सत्य। सिद्धि दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नहीं होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण सत्य है–त्रैकालिक और अपुनरावर्तनीय है।

जैन तत्त्व व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन–ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप सत्य हैं। गति हेतुकता, स्थिति हेतुकता, अवकाश हेतुकता, परिवर्तन हेतुकता और ग्रहण (संयोग–वियोग) की अपेक्षा–विभिन्न कार्यों और गुणों की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल–पांच अचेतन द्रव्य और जीव, ये छह सत्य हैं। ये विभाग- सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (बंध हेतु), संवर (बंध निरोध), निर्जरा (बंध-क्षय हेतु)–ये तीन साधन सत्य हैं। मोक्ष साध्य सत्य है। बंधन दशा में आत्मा के ये चारों रूप सत्य हैं। मुक्त दशा में आस्रव भी नहीं होता, संवर भी नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती, साध्यरूप मोक्ष भी नहीं होता, इसलिए वहां आत्मा का केवल आत्मा रूप ही सत्य है।

बद्ध दशा में आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव–पुद्गल) का संबंध होने से उसके बंध, पुण्य और पाप–ये तीनों रूप सत्य हैं। मुक्त दशा में बंधन भी नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता, पाप भी नहीं होता। इसलिए जीव वियुक्त दशा में केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की संयोग दशा में नव सत्य हैं। उनकी वियोग दशा में केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) सत्य है। निश्चय नय से वस्तु का त्रैकालिक रूप (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

2. मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व

नव तत्त्व

सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वयं सत्य बन जाना ही जैनदर्शन का धर्म है।

मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेयों को तत्त्व कहा जाता है। वे नौ हैं–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।[१] उमास्वाति ने उनकी संख्या सात मानी है–पुण्य और पाप का उल्लेख नहीं किया है।[२] संक्षेप दृष्टि से तत्त्व दो हैं–जीव और अजीव।[३] सात या नौ विभाग उन्हीं का विस्तार है। पुण्य और पाप बंध के अवांतर भेद हैं। उनकी पृथक् विवक्षा हो तो तत्त्व नौ और यदि उनकी स्वतंत्र विवक्षा न हो तो वे सात होते हैं।

पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं। वे जीव और अजीव की अवस्था विशेष हैं। पुण्य, पाप और बंध, ये पौद्गलिक हैं, इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलों का आकर्षक भी है। इसलिए उसे मुख्यवृत्त्या कुछ आचार्य जीव-पर्याय मानते हैं, कुछ अजीव-पर्याय। यह विवक्षा भेद है।

नव तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और नौवां मोक्ष। जीव के दो प्रकार बतलाए गए हैं–बद्ध और मुक्त।[४] यहां बद्ध जीव पहला और मुक्त जीव नौवां तत्त्व है। अजीव जीव का प्रतिपक्ष है। वह बद्ध मुक्त नहीं होता, पर जीव का बंधन पौद्गलिक होता है। इसलिए साधना के क्रम में अजीव की जानकारी भी आवश्यक है। बंधन मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक बनता है और साध्य होता है मोक्ष। शेष सारे तत्त्व साधक या बाधक बनते हैं। पुण्य, पाप और बंध मोक्ष के बाधक हैं। आस्रव को अपेक्षा-भेद से बाधक और साधक दोनों माना जाता है। शुभ योग को आस्रव कहें तो उसे मोक्ष का साधक भी कह सकते हैं, किंतु आस्रव का कर्म संग्राहक रूप मोक्ष का बाधक ही है। संवर और निर्जरा–ये दो मोक्ष के साधक हैं।

बाधक तत्त्व (आस्रव) पांच हैं–१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग।

जीव में विकार पैदा करने वाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टिविकार उत्पन्न करने वाले परमाणु दर्शनमोह हैं।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८/१४
२. तत्त्वार्थसूत्र, १/४
३. ठाणं, २/१
४. तत्त्वार्थसूत्र, २/१०

चारित्रविकार उत्पन्न करने वाले परमाणु चारित्रमोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं– कषाय और नो कषाय-कषाय को उत्तेजित करने वाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं–

पहला वर्ग

अनंतानुबंधी क्रोध–जैसे–पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनंतानुबंधी मान–जैसे–पत्थर का खंभा (दृढ़तम)।

अनंतानुबंधी माया–जैसे–बांस की जड़ (वक्रतम)।

अनंतानुबंधी लोभ–जैसे–कृमि रेशम का रंग (गाढ़तम)।

इनका प्रभुत्व दर्शनमोह के परमाणुओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके उदयकाल में सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। यह मिथ्यात्व आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक् दृष्टि की बाधक है। इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि और संदिग्धदृष्टि हैं। यहां देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसे पार करने वाला सम्यक् दृष्टि होता है।

दूसरा वर्ग

अप्रत्याख्यान क्रोध–जैसे–मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान मान–जैसे–हाड़ का खंभा (दृढ़तर)।

अप्रत्याख्यान माया–जैसे–मेढ़े का सींग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान लोभ–जैसे–कीचड़ का रंग (गाढ़तर)।

इनके उदय काल में चारित्र को विकृत करने वाले परमाणुओं का प्रवेश निरुद्ध (संवर) नहीं होता। यह अव्रत आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी सम्यक् दृष्टि हैं। यहां देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करने वाला अणुव्रती होता है।

तीसरा वर्ग

प्रत्याख्यान क्रोध–जैसे–धूलि-रेखा (स्थिर)।

प्रत्याख्यान मान–जैसे–काठ का खंभा (दृढ़)।

प्रत्याख्यान माया–जैसे–चलते बैल की मूत्रधारा (वक्र)।

प्रत्याख्यान लोभ–जैसे–खंजन का रंग (गाढ़)।

इनके उदय काल में चारित्र विकारक परमाणुओं का पूर्णतः निरोध (संवर) नहीं होता। यह अपूर्ण अव्रत आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहां आत्मरमण की वृत्ति का आरंभिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करनेवाले महाव्रती बनते हैं।

चौथा वर्ग

संज्वलन क्रोध–जैसे–जल रेखा (अस्थिर, तात्कालिक)।

संज्वलन मान–जैसे–लता का खंभा (लचीला)।

संज्वलन माया–जैसे–छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)।

संज्वलन लोभ–जैसे–हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला)।

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का अस्तित्व निर्मूल नहीं होता। यह प्रारंभ में प्रमाद और बाद में कषाय आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग संयमी होते हैं।

योग आस्रव शैलेशी दशा (असंप्रज्ञात समाधि) का बाधक है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से पाप कर्म का बंध होता है। आस्रव के प्रथम चार रूप आंतरिक दोष हैं। उनके द्वारा पाप कर्म का सतत बंध होता है। योग आस्रव प्रवृत्यात्मक है। वह अशुभ और शुभ दोनों प्रकार का होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ नहीं होतीं। शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बंध होता है।

आस्रव के द्वारा शुभ अशुभ कर्म का बंध, उसका पुण्य-पाप के रूप में उदय, उदय से फिर आस्रव, उससे फिर बंध और उदय–यह संसार चक्र है।

साधक तत्त्व

मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं–संवर और निर्जरा।

जितने आस्रव हैं, उतने ही संवर हैं। आस्रव के पांच विभाग हैं, इसलिए संवर के भी पांच विभाग हैं–१. सम्यक्त्व २. विरति ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग।

निर्जरा का अर्थ है कर्म क्षय और उससे होने वाली आत्म स्वरूप की उपलब्धि। निर्जरा का हेतु तप है। तप के बारह प्रकार हैं, इसलिए निर्जरा के बारह प्रकार होते हैं।[१] जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है, वैसे ही निर्जरा बंध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बंध की निर्जरा होती है। उससे आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है–मोक्ष हो जाता है।

निर्जरा का हेतु तप है। उसके बाह्य अंग ये हैं–१. अनशन २. आहार-संयम ३. आसन-प्रयोग ४. इन्द्रिय-संयम।

उसके आंतरिक अंग ये हैं–१. प्रायश्चित्त २. विनय ३. सेवा ४. कायोत्सर्ग ५. स्वाध्याय ६. ध्यान।

ध्यान

विगत कुछ शताब्दियों में जैन परंपरा में ध्यान का क्रम विच्छिन्न जैसा हो गया। क्यों हुआ? इसकी चर्चा में मुझे नहीं जाना है, किंतु वह हो गया, यह सचाई है। अभ्यास की धारा टूटने के कारण हमारे अनेक जैन पंडित यह मानने लग गए कि जैनों की अपनी कोई ध्यान

१. जैन सिद्धांत दीपिका ६/२९,३६।

पद्धति नहीं है। वे ध्यानाभ्यास के लिए पंतजलि आदि योगाचार्यों के ऋणी हैं। किसी आचार्य या किसी पद्धति का जो ऋण है, उसे स्वीकार करना बहुत अच्छी बात है, किंतु आत्मविस्मृति अच्छी बात नहीं है।

भगवान महावीर ध्यान युक्त तपस्या के बल पर ही केवली हुए थे। अन्य जितने भी मुनि केवली बने, वे सब ध्यान के बल पर ही बने थे, फिर ध्यानाभ्यास की पद्धति दूसरों के अनुदान से प्राप्त है, यही क्यों माना जाए?

जैन मुनि सत्य की खोज के लिए ध्यान करते थे। उनका ध्यान दो श्रेणियों में विभक्त था–धर्म्य और शुक्ल।

धर्म्य का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। वस्तु में अनंत धर्म होते हैं, अनंत पर्याय होते हैं। हम उसके थोड़े से पर्यायों को जानते हैं। उसके शेष पर्याय हमारे लिए अज्ञात रहते हैं। उन अज्ञात पर्यायों को ज्ञात करने का सशक्त साधन ध्यान है।

अतीन्द्रिय ज्ञानी मुनियों ने जिन सूक्ष्म द्रव्यों और पर्यायों का प्रतिपादन किया है, वे हमारे बुद्धि के लिए गम्य नहीं हैं। उन्हें जानने के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता था। उस ध्यान पद्धति का नाम है–धर्म्य ध्यान।

धर्म्य ध्यान वस्तु-सत्य तक पहुंचने की आंतरिक प्रक्रिया है, किंतु आज वह परिभाषा के बंधन में जकड़ी हुई है। उसे मुक्त किए बिना हम जैनों की ध्यान पद्धति का मर्म नहीं जान सकेंगे।

जैन आगमों में बहुत सारी बातें सूत्ररूप में लिखित हैं। हजारों वर्षों के व्यवधान के कारण उनका सम्यक् ग्रहण नहीं हो पाता। प्रायः उनका स्थूल कलेवर ही हाथ लगता है।

दूसरी बात यह है कि सूत्रकारों और व्याख्याकारों की शैली की विशिष्टता को समझे बिना हम उनके प्रतिपाद्य का आशय नहीं समझ सकते।

सूत्र रचना की एक शैली यह है कि उसमें व्यापक तत्त्व एक उदाहरण के द्वारा निरूपित किया जाता है। हम लोग उसका अर्थ उतना ही समझ लेते हैं, जितना उस उदाहरण में समाता है। हम इस तथ्य को भूल जाते हैं कि यह वस्तु की पूर्ण परिभाषा नहीं है, किंतु यह उसका एक उदाहरण है। ध्यान विषयक अज्ञान का भी यह एक मुख्य हेतु है।

धर्म्य ध्यान के चार सोपान हैं–१. आज्ञा विचय २. अपाय विचय ३. विपाक विचय ४. संस्थान विचय।

व्याख्याओं में इनके उदाहरणात्मक अर्थ मिलते हैं, जैसे–

आज्ञा विचय–वीतराग की आज्ञा का निर्णय करना।

अपाय विचय–कषाय आदि दोषों का निर्णय करना।

विपाक विचय–कर्म के परिणामों का निर्णय करना।

संस्थान विचय–लोक के आकार का निर्णय करना।

इन उदाहरणात्मक अर्थों को हम सीमित अर्थ में समझते हैं। फलतः हमारी ध्यान–पद्धति का हृदय पकड़ में नहीं आता।

वनस्पति सजीव है–यह शास्त्रों में लिखा है। वनस्पति के जीव हमारी दृष्टि में नहीं आते। हम क्या करें? इस शास्त्रीय सत्य को स्वीकारें या नकारें? नकारने का साहस वही कर सकता है, जो सत्य की अनंत-धर्मा अभिव्यक्तियों से अनभिज्ञ है। उसे स्वीकारना श्रद्धा का काम है।

एक चिंतनशील बौद्धिक व्यक्ति इन दोनों मार्गों से चलना पसंद नहीं करता। इस स्थिति में वह ध्यान का सहारा लेकर इस समस्या को सुलझाता है। शास्त्रों में जो सूक्ष्म पर्याय निरूपित हैं, उन्हें वह पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार कर लेता है।

वनस्पति सजीव है–इसे पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर ध्यानी साधक अपने समग्र चिंतन को उस पर केन्द्रित कर देता है। इस ध्यान का विषय प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा प्रतिपादित सत्यों में से लिया जाता है, इसलिए उसे आज्ञा विचय कहा गया।

आज्ञा का संबंध केवल वीतराग या केवली से ही क्यों? आयुर्वेद के आचार्य ने कहा–गुड़ कफ कारक है और सूंठ पित्त कारक। ध्यान द्वारा इसके प्रामाण्य को जानना क्या आज्ञा विचय नहीं है? क्या वैज्ञानिकों के अनेक आविष्कारों का ध्यान द्वारा प्रामाण्य जानना आज्ञा विचय नहीं है? परोक्ष पर्याय की यथार्थता का बोध करने के लिए किसी शास्त्र या व्यक्ति के निर्देश को आलंबन बनाकर उसमें मन को केन्द्रित करना आज्ञा विचय है।

अपाय विचय विश्लेषणात्मक पद्धति का ध्यान है। वस्तु की वास्तविकता जानने के लिए उसकी मौलिक सत्ता तक पहुंचना आवश्यक है। यह विश्व संपर्कों और सम्मिश्रणों से संकुल है। सत्य के शोधक संपर्कों का विश्लेषण करते–करते वस्तु की शुद्ध सत्ता को प्राप्त कर लेते हैं।

आत्म ध्यान की अपाय पद्धति का निर्देश आचारांग सूत्र (१।५।६) में बहुत सुंदर मिलता है–

मैं कौन हूं? इस प्रश्न के संदर्भ में उसे इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है–

मैं शब्द नहीं हूं, रूप नहीं हूं, गंध नहीं हूं, रस नहीं हूं, स्पर्श नहीं हूं।

मैं दीर्घ नहीं हूं, ह्रस्व नहीं हूं।

मैं वृत्त नहीं हूं, त्रिकोण नहीं हूं, चतुष्कोण नहीं हूं, परिमंडल नहीं हूं।

मैं शरीर नहीं हूं, वाणी नहीं हूं, मन नहीं हूं।

मैं इन्द्रिय नहीं हूं, प्राण नहीं हूं, श्वास-उच्छ्वास नहीं हूं।

मैं अरूपी सत्ता हूं।

इस अपाय पद्धति में ध्याता का ध्यान मूर्त से अमूर्त की भूमिका में चला जाता है। इससे आगे आत्मा का अमूर्त द्रव्यों से अपाय करना होता है–

'मैं कौन हूं?'

मैं गतिसहायक द्रव्य नहीं हूं।

मैं स्थितिसहायक द्रव्य नहीं हूं।

मैं अवकाश देने वाला द्रव्य नहीं हूं।

मैं परिवर्तन का हेतु नहीं हूं।

इन अमूर्त सत्ताओं का निषेध करने पर जो शेष रहता है, वह है–चैतन्य।

'मैं चैतन्यमय हूं।'

आत्मा के वैभाविक पर्यायों से उसकी भिन्नता का ध्यान करना–

मैं क्रोध नहीं हूं, मान नहीं हूं, माया नहीं हूं, लोभ नहीं हूं, भय नहीं हूं, घृणा नहीं हूं, वासना नहीं हूं, अज्ञान नहीं हूं, मिथ्यात्व नहीं हूं।

मैं शुद्ध चैतन्यमय हूं।

महर्षि रमण इस अपाय पद्धति को बहुत महत्त्व देते थे। उनका क्रम यह था–

मैं कौन हूं? सप्तधातुओं का बना हुआ स्थूल शरीर मैं नहीं हूं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध–इन पंच विषयों को ग्रहण करने वाली कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका–ये पांच ज्ञानेन्द्रियां भी मैं नहीं हूं। वचन, गमन, दान, मलविसर्जन और आनंद की पंचविध क्रिया करनेवाली वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ–ये पांच कर्मेन्द्रियां भी मैं नहीं हूं। श्वासादि पंचक्रिया करने वाला प्राणादि वायु पंचक भी मैं नहीं हूं। संकल्प करने वाला मन भी मैं नहीं हूं। सब विषयों और वृत्तियों को छोड़कर सिर्फ विषय वासनाओं के संग में रहने वाला अज्ञान भी मैं नहीं हूं। इस प्रकार 'नेति नेति' अर्थात् 'मैं यह नहीं हूं; मैं यह नहीं हूं' ऐसा कहते–कहते उपरोक्त सब उपाधियों का निषेध करने के बाद जो एकमात्र चैतन्य शेष रहता है, वही 'मैं' हूं।[१]

पुद्गलों के गुण धर्मों का विश्लेषण करने की वैज्ञानिक पद्धति अपाय पद्धति है। वैज्ञानिक पद्धति–यंत्रों के सहारे चलती है और ध्यान पद्धति आंतरिक विकास के सहारे चलती है। मन का केन्द्रीकरण दोनों में अपेक्षित होता है।

विपाक विषय के ध्यान काल में पदार्थों के परिणामों पर मन केन्द्रित किया जाता है। केवल कर्मों के विपाकों पर मन का स्थिरीकरण ही विपाक विचय नहीं है। इसे एक उदाहरण ही कहा जा सकता है।

संस्थान विचय–ध्यान पद्धति के द्वारा ध्यानी मुनि पदार्थों के लक्षण, संस्थान (आकृति–रचना), आधार, विधान, प्रमाण, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक पर्यायों को जान लेते थे।[२]

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान के विविध योगों से विविध वस्तुएं निष्पन्न होती हैं। विभिन्न परमाणु भी वस्तु के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। भगवती सूत्र में वर्णित अनेक भंग इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। यह ज्ञान सूत्रकारों को ध्यान बल से प्राप्त हुआ था।

---

१. मैं कौन हूं?, पृ. ५,६

२. ध्यानशतक ५२

निर्वाण-मोक्ष

गौतम ने पूछा–भंते! मुक्त जीव कहां रुकते हैं। वे कहां प्रतिष्ठित हैं? वे शरीर कहां छोड़ते हैं और सिद्ध कहां होते हैं?

भगवान ने कहा कि मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकांत में प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य लोक में शरीर मुक्त होते हैं और सिद्धि क्षेत्र में वे सिद्ध होते हैं।[१]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं, इसलिए उपचार दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है।

कर्म परमाणुओं से प्रभावित आत्मा संसार में भ्रमण करती है। भ्रमण काल में ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं करता। यह सब स्व नियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है।[२]

कर्म का घनत्व मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकांत तक चली जाती है। जब तक कर्म का घनत्व होता है, तब तक लोक का घनत्व उस पर दबाव डालता है। ज्यों ही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हल्की होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्वगति में बाधक नहीं बनता। गुब्बारे में हाइड्रोजन भरने पर वायुमंडल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊंचा चला जाता है। वही बात यहां समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय सापेक्ष है।[३] उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्त जीव लोक के अंतिम छोर तक चले जाते हैं।

मुक्त जीव अशरीर होते हैं। गति शरीर सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नहीं होने चाहिए। बात सही है। उनमें कंपन नहीं होता। अकंपित दशा में जीव की मुक्ति होती है[४] और वे सदा उसी स्थिति में रहते हैं। सही अर्थ में वह उनकी स्वयं प्रयुक्त गति नहीं, बंधन मुक्ति का वेग है, जिसका एक ही धक्का एक क्षण में उन्हें लोकांत तक ले जाता है।

पूर्व प्रयोगजनित वेग के कारण चक्र स्वयं घूमता है। मिट्टी से लिपी हुई तुंबी जल के तल में चली जाती है। लेप उतरते ही वह ऊपर आ जाती है। एरंड का बीज फली में बंधा रहता है, किंतु बंध टूटते ही ऊपर उछलता है।

अग्नि की शिखा स्वभाव सिद्ध लाघव के कारण ऊपर को जाती है। इसी प्रकार अकर्म जीव की ऊर्ध्व गति के चार कारण हैं–१. पूर्व प्रयोग २. असंगता ३. बंध विच्छेद ४. तथाविध स्वभाव।[५]

---

१. उत्तरज्झयणाणि ३६/५६, ५७
२. भगवई ९/३२

३. द्रव्यानुयोगतर्कणा १०/६
४. भगवई ३/१२८

५. भगवई ७।११ : निस्संगयाए, निरंगणाए, गतिपरिणामेणं, बंधणछेयणाए, निरिंधणयाए, पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पण्णायति।

मुक्त दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं, वह स्वयं स्वतंत्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं, इसलिए वह स्वयं अखंड है। उसका सहज रूप प्रकट होता है–यही मुक्ति है। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता, किंतु उनकी सत्ता स्वतंत्र होती है। सत्ता का स्वातंत्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है, इसलिए कर्म उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है–सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता है, वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतंत्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त दशा में आत्मा समस्त वैभाविक-आधेयों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका बंध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

ईश्वर

जैन ईश्वरवादी नहीं–बहुतों की ऐसी धारणा है। बात ऐसी नहीं है। जैन दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण विकास (चरमलक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म) का अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर है। मुक्त आत्माएं अनंत हैं, इसलिए ईश्वर अनंत हैं।

एक ईश्वर कर्ता और महान, दूसरी मुक्तात्माएं अकर्ता इसलिए अमहान। वे उस महान ईश्वर में लीन हो जाती हैं–यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरुपाधिक दशा में हो नहीं सकती। मुक्त आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता को इसलिए अस्वीकार करने वाले कि स्वतंत्र सत्ता मानने पर मोक्ष में भी भेद रह जाता है, एक निरुपाधिक सत्ता को अपने में विलीन करने वाली और दूसरी निरुपाधिक सत्ता को उसमें विलीन होने वाली मानते हैं–क्या यह निर्हेतुक भेद नहीं? मुक्त दशा में समान विकसित प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का स्वीकार वस्तु स्थिति का स्वीकार है।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत आनंद–यह मुक्त आत्मा का स्वरूप या ऐश्वर्य है। यह सबमें समान होता है।

आत्मा सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि सहित) होती है, तब उसमें पर-भाव का कर्तृत्व होता है। मुक्त दशा निरुपाधिक है। उसमें केवल स्वभाव रमण होता है, पर भाव कर्तृत्व नहीं। इसलिए ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करना उचित नहीं।

अध्यात्म-विकास की भूमिकाएं

विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा चौदह भूमिकाएं होती हैं। उनमें सम्यक् दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रांति का आदि बिंदु होने के कारण यह साधना की पहली भूमिका है।

पहली तीन भूमिकाओं में प्रथम भूमिका के तीन रूप बनते हैं–१. अनादि अनंत २. अनादि सांत ३. सादि सांत।

प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति भव्य (कभी भी मुक्त न होनेवाले) जीव होते हैं।

दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है, जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन की गांठ को तोड़कर सम्यग्दर्शनी बन जाते हैं।

सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी–ऐसे जीवों की अपेक्षा तीसरा रूप बनता है।

पहली भूमिका उत्क्रांति की नहीं है। इस दशा में शील की देश आराधना हो सकती है।[१] शील और श्रुत–दोनों की आराधना नहीं, इसलिए सर्व आराधना की दृष्टि से यह अपक्रांति का स्थान है। मिथ्यादर्शनी व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म-विलयजन्य विशुद्धि का अंश भी न मिले।

दूसरी भूमिका अपक्रमण दशा की है। सम्यग्दर्शनी मोह के उदय से मिथ्यादर्शनी बनता है। उस संक्रमण काल में यह स्थिति बनती है। पेड़ से फल गिर गया और जमीन को न छू पाया-ठीक यही स्थिति इसकी है।

तीसरी भूमिका मिश्र है। इसका अधिकारी न सम्यग्दर्शनी होता है और न मिथ्यादर्शनी। यह संशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि विपर्यय वाला होता है और इसका अधिकारी संशयालु–यह दोनों में अंतर है। यह दोलायमान दशा अधिक नहीं टिकती, फिर वह या तो विपर्यय में परिणत हो जाती है या सम्यक् दर्शन में। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनों भूमिकाओं में दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है, शेष दो अल्पकालीन हैं।

सम्यक् दर्शन

सम्यक् दर्शन उत्क्रांति का द्वार है, इसीलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नहीं, जितना कि इससे अगली भूमिकाओं का है। सम्यग्दर्शनी के संवर नहीं होता। उसके केवल निर्जरा होती है। इसे हस्ति स्नान के समान बताया गया है। हाथी नहाता है और तालाब से बाहर आ धूल या मिट्टी उछाल, फिर उससे गंदला बन जाता है। वैसे ही अविरत व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म निर्जरण कर शोधन करते हैं और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नहीं है।

साधना की समग्रता को रथचक्र और अंध-पंगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यक् दर्शन) से साध्य नहीं मिलता।

---

१. भगवई ८/४५०

विद्या पंगु है, क्रिया अंधी। साध्य तक पहुंचने के लिए पैर और आंख दोनों चाहिए।

कुछ दार्शनिक कहते हैं कि तत्त्वों को सही रूप में जाननेवाला सब दुःखों से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं करते। वे एकांत अक्रियावादी बन जाते हैं। भगवान महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचिक आश्वासन कहा है।[१]

सम्यक् दृष्टि के पाप का बंध नहीं होता या उसके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता-ऐसी मिथ्या धारणा न बने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[२] बाल[३] और सुप्त कहा है।[४]

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

'धर्म को जानता हूं, पर उसमें प्रवृत्ति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूं, पर उससे निवृत्ति नहीं है'–यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। इसका पुनरावर्तन प्रत्येक जीव में होता है। यह प्रश्न अनेक बार मुखरित होता रहता है कि 'क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी छोड़ नहीं पाते?' जैन कर्मवाद इसके कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यह है–जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्‌गलों का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहने वाले पुद्‌गलों के अलग होने पर प्रकट होती है। अच्छा आचरण करना–यह चारित्र को मोहने वाले पुद्‌गलों के दूर होने पर संभव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्‌गलों के हट जाने पर भी दर्शन मोह के पुद्‌गल आत्मा पर छाए हुए हों तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नहीं होता। दर्शन को मोहने वाले पुद्‌गल बिखर जाएं, तब उस पर श्रद्धा बन जाती है, पर चारित्र को मोहने वाले पुद्‌गलों के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नहीं होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह बनता है–१. ज्ञान, २. श्रद्धा, ३. चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के बिना भी हो सकता है, पर श्रद्धा उसके बिना नहीं होती। श्रद्धा चारित्र के बिना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके बिना नहीं होता। अतः वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अंतर) जो होता है, वह निष्कारण नहीं है। जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती है, चारित्र का भाव प्रकट होता है, वैसे-वैसे द्वैध की खाई पटती जाती है, पर वह छद्मस्थ दशा में पूरी नहीं पटती।

छद्‌मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान महावीर ने कहा–'छद्‌मस्थ सात कारणों से पहचाना जाता है–

१. वह प्राणातिपात करता है।

२. मृषावादी होता है।

३. अदत्त लेता है।

४. शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का आस्वाद लेता है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि ६/९, १०
२. भगवई १७/२४
३. सूयगडो १/२/४३
४. भगवई १६/८०

५. पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है।

६. पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है।

७. जैसा कहता है, वैसा नहीं करता।[१]

यह प्रमादयुक्त व्यक्ति की मनःस्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रबल होता है, तब कथनी-करनी की एकता नहीं होती। उसके बिना ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य नहीं होता। इनके असामंजस्य में पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहां यह होती है, वहां विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रबलता में ये विकार एक ही शृंखला से जुड़े रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग में ये सातों विकार नहीं होते।

देश विरति

भगवान ने कहा—गौतम! सत्य की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यावादियों के संग में ही लीन रहते हैं। उन्हें सत्य श्रुति का अवसर नहीं मिलता। श्रद्धा सत्य श्रुति से भी दुर्लभ है। बहुत सारे व्यक्ति सत्यांश सुनते हुए भी, जानते हुए भी उस पर श्रद्धा नहीं करते। वे मिथ्यावाद में ही रचे पचे रहते हैं। सत्य का आचरण श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरांत भी काम भोग की मूर्च्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नहीं होता। तीव्रतम कषाय के विलय से सम्यक् दर्शन की योग्यता आ जाती है, किंतु तीव्रतर कषाय के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नहीं आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चारित्रवान श्रद्धासंपन्न अवश्य होता है, किंतु श्रद्धावान चारित्र संपन्न होता भी है और नहीं भी। यही इस भूमिका भेद का आधार है। पांचवीं भूमिका चारित्र की है। इसमें चारित्रांश का उदय होता है। यह संवर का प्रवेश द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक रूप नहीं होती। उसमें असीम तारतम्य होता है। विस्तार दृष्टि से चारित्र विकास के अनंत स्थान हैं। संक्षेप में उसके वर्गीकृत स्थान दो हैं—अपूर्ण चारित्र और पूर्ण चारित्र। पांचवीं भूमिका अपूर्ण विरति की है। यह गृहस्थ का साधना क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष और इच्छा परिमाण—ये पांच अणुव्रत हैं। दिग् विरति, भोगोपभोग विरति और अनर्थ दंड विरति—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

बहुत लोग दूसरों के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोग सामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाया करते हैं। इसके साथ शोषण या असंयम की कड़ी जुड़ी हुई है। असंयम को खुला रखकर चलनेवाला स्वस्थ अणुव्रती नहीं हो सकता। दिग्व्रत में सार्वभौम आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सभी प्रकार के अनाक्रमण की भावना है। भोग उपभोग की खुलावट और प्रमाद जन्य भूलों से बचने के लिए सातवां और आठवां व्रत किया गया है। ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, इसलिए इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

---

१. ठाणं ७/२८।

धर्म समतामय है। राग–द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है–राग द्वेष का अभाव। विषमता है राग द्वेष का भाव। समभाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

समभाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल पल जागरूक रहता है, वही समभाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पौषधोपवास व्रत साधु जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सावद्य प्रवृत्ति को त्याग, समभाव की उपासना करना पौषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का संविभाग देना अतिथि संविभाग व्रत है। चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार बार करने योग्य हैं, इसलिए इन्हें शिक्षाव्रत कहा गया है।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है। छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएं मुनि जीवन की हैं।

सर्व विरति

यही छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता है। महाव्रत पांच हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि भोजन विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान ऋषभ देव और भगवान महावीर के समय में रात्रि भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप में रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय यह उत्तर गुण के रूप में रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नहीं मिलता।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणों को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हें व्रत की संज्ञा नहीं दी जाती। मूलगुण की मान्यता में परिवर्तन होता रहा है–धर्म का निरूपण विभिन्न रूपों में मिलता है।

अप्रमाद

यह सातवीं भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है। उसमें प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कहीं-कहीं हिंसा भी कर लेता है। सातवीं का अधिकारी प्रमादी नहीं होता, सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। इसलिए अप्रमत्त संयति अहिंसक और प्रमत्त संयति शुभयोग की अपेक्षा से अहिंसक और अशुभयोग की अपेक्षा से हिंसक होता है।

श्रेणी आरोह

आठवीं भूमिका का आरंभ अपूर्वकरण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है। आत्मा 'गुण श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणियां दो हैं–उपशम और क्षपक। मोह को उपशांत कर आगे बढ़नेवाला ग्यारहवीं भूमिका में पहुंच मोह को सर्वथा उपशांत कर वीतराग बन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। मोह को खपाकर आगे बढ़ने वाला बारहवीं भूमिका में पहुंच वीतराग बन जाता है। क्षीण मोह का अवरोह नहीं होता।

केवली

तेरहवीं भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अंतराय—ये तीनों कर्म बंधन टूट जाते हैं। आत्मा निरावरण और निरंतराय बन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। उन्हीं के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अंतिम क्षणों में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अंतिम भूमिका है। इस काल में वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव में परिणत हो जाता है। साधन स्वयं साध्य बन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणति मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

महाव्रत और अणुव्रत

सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं।[१] काव्य की भाषा में—'अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली बाड़ें हैं।'[२] 'अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं।'[३] सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

अहिंसा का यह व्यापक रूप है। इसकी परिभाषा है—जो संवर और सत्प्रवृत्ति है, वह अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा रूप है—प्राणातिपात विरति। भगवान ने कहा—'जीवमात्र को मत मारो, मत सताओ, आधि व्याधि मत पैदा करो, कष्ट मत दो, अधीन मत बनाओ, दास मत बनाओ, यही ध्रुव धर्म है, यही शाश्वत सत्य है।' इसकी परिभाषा है—मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित, अनुमति से आक्रोश, बंध और वध का त्याग। इसमें मृषावाद, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का समावेश नहीं होता। अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य जितने व्यापक शब्द हैं, उतने व्यापक प्राणातिपात विरति, मृषावाद विरति और मैथुन विरति नहीं हैं।

प्राणातिपात विरति भी अहिंसा है। स्वरूप की दृष्टि से अहिंसा एक है। हिंसा भी एक है। कारण की दृष्टि से हिंसा के दो प्रकार बनते हैं, अर्थ हिंसा—आवश्यकतावश की जाने वाली हिंसा और अनर्थ हिंसा—अनावश्यक हिंसा। मुनि सर्व हिंसा का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। वह अहिंसा महाव्रत को इन शब्दों में स्वीकार करता है—'भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं—पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरत होने के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूं। सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर जीवों का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न करूंगा, दूसरे से न कराऊंगा और न करने वाले का अनुमोदन करूंगा। मैं यावज्जीवन के लिए इस प्राणातिपात विरति महाव्रत को स्वीकार करता हूं।'

---

१. पंचसंग्रह : एक्कं चिय एक्कवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमण सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा॥

२. हारिभद्रीयअष्टक १६/५ : अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्॥

३. योगशास्त्र : अहिंसापयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।

गृहस्थ अर्थ हिंसा छोड़ने में क्षम नहीं होता, वह अनर्थ हिंसा का त्याग और अर्थ हिंसा का परिमाण करता है। इसलिए उसका अहिंसा व्रत स्थूल प्राणातिपात विरति कहलाता है। जैन आचार्यों ने गृहस्थ के उत्तरदायित्वों और विवशताओं को जानते हुए कहा–'आरंभी– कृषि, व्यापार संबंधी और विरोधी–प्रत्याक्रमण-कालीन हिंसा से न बच सको तो संकल्पी– आक्रमणात्मक और अप्रायोजनिक हिंसा से अवश्य बचो।' इस मध्यम मार्ग पर अनेक लोग चले। यह सबके लिए आवश्यक मार्ग है। अविरति मनुष्य को मूढ़ बनाती है, यह केवल अविरति नहीं है। विरति मनुष्य मात्र के लिए सरल नहीं होती, यह केवल विरति नहीं है। यह अविरति और विरति का योग है। इसमें न तो वस्तु स्थिति का अपलाप है और न मनुष्य की वृत्तियों का पूर्ण अनियंत्रण। इसमें अपनी विवशता की स्वीकृति और स्ववशता की ओर गति दोनों हैं।

निश्चय दृष्टि यह है–हिंसा से आत्मा का पतन होता है, इसलिए वह अकरणीय है।

व्यवहार दृष्टि यह है–सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है। जीना सबको प्रिय है। सब जीव लंबे जीवन की कामना करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है।

यह सब समझकर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

किसी जीव को त्रास नहीं पहुंचाना चाहिए।[१]

किसी के प्रति वैर और विरोध भाव नहीं रखना चाहिए।[२]

सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।[३]

हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दुःख देने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने वश करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।[४]

मृषावाद विरति दूसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है–असत्य-भाषण से विरत होना।

अदत्तादान विरति तीसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है–बिना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना।

मैथुन विरति चौथा महाव्रत है। इसका अर्थ है–भोग विरति।

पांचवां महाव्रत अपरिग्रह है। इसका अर्थ है–परिग्रह का त्याग।

मुनि मृषावाद आदि का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, इसलिए स्वीकृति निम्न शब्दों में करता है–

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं–दूसरे महाव्रत में मृषावाद विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूं। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश-मनसा, वाचा, कर्मणा

१. उत्तरज्झयणाणि २/२० : न य वित्तासए परं।
२. सूयगडो १/१/१५/१३ : न विरुज्झेज्ज केणई।
३. उत्तरज्झयणाणि ६/२ : मेत्तिं भूएसु कप्पए।
४. आयारो ५/१०१

मैं स्वयं मृषा न बोलूंगा, न दूसरों से बुलवाऊंगा और न बोलनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं मृषावाद से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं–तीसरे महाव्रत में अदत्तादान-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूं। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित अदत्तादान मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न लूंगा, न दूसरों से लिवाऊंगा और न लेनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यंत मैं अदत्तादान से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं–चौथे महाव्रत में मैथुन विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं। दिव्य, मनुष्य एवं तिर्यंच मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न सेवन करूंगा, न दूसरों से सेवन करवाऊंगा और न सेवन करने वाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यंत मैं मैथुन से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं–पांचवें महाव्रत परिग्रह-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त परिग्रह मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण करवाऊंगा, न ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यंत मैं परिग्रह से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं–छठे व्रत रात्रि भोजन विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि में खाने का प्रत्याख्यान करता हूं। मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं रात्रि के समय न खाऊंगा, न दूसरों को खिलाऊंगा, न खानेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यंत मैं रात्रि भोजन से विरत होता हूं।

गृहस्थ के मृषावाद आदि की स्थूल विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत होते हैं। स्थूल मृषावाद विरति, स्थूल अदत्तादान विरति, स्वदार संतोष और इच्छा परिमाण–ये उनके नाम हैं। महाव्रतों की स्थिरता के लिए पचीस भावनाएं हैं। प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं।[१]

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतों की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पांच महाव्रतों में मैथुन देह से अधिक संबंधित है। इसलिए मैथुन विरति की साधना के लिए विशिष्ट नियमों की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान है।[२] ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में प्रधान है।[३] जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सब व्रतों को आराध लिया।[४] जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं–वे आदि-मोक्ष हैं। मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं।[५] ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं।[६]

---

१. आयारचूला १५/४३–७८।
२. पण्हावागरणाइं २/४ : बंभं भगवंतं।
३. सूयगडो १/६/२३ : तवेसु या उत्तम बंभचेरं।
४. प्रश्नव्याकरण, २/४ : जंमियं आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं।
५. उत्तराज्झयणाणि, ३२/१७ : नेयारिसं दुत्तरमथि लोए।
६. उत्तराज्झयणाणि, ३२/१८।

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही दुष्कर है।[१] इस आसक्ति को तरनेवाला महासागर को तर जाता है।[२]

कहीं पहले दंड, पीछे भोग है और कहीं पहले भोग, पीछे दंड है–ये भोग संगकारक हैं।[३] इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं, किंतु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है।[४] ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय है। ब्रह्मचारी की चर्या इस प्रकार होनी चाहिए–

१. एकांतवास–विकारवर्धक सामग्री से दूर रहना।

२. कथा-संयम–कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।

३. परिचय-संयम–कामोत्तेजक संपर्कों से बचना।

४. दृष्टि-संयम–दृष्टि के विकार से बचना।

५. श्रुति-संयम–विकार पैदा करनेवाले शब्दों से बचना।

६. स्मृति-संयम–पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।

७. रस-संयम–पुष्ट हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।

८. अतिभोजन-संयम (मिताहार)–मात्रा और संख्या में कम खाना, बार–बार न खाना, जीवन निर्वाह मात्र खाना।

९. विभूषा-संयम–शृङ्गार न करना।

१०. विषय-संयम–मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना।[५]

११. भेद-चिंतन–विकार-हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।

१२. शीत और ताप सहन–ठंडक में खुले बदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।

१३. सौकुमार्य-त्याग।

१४. राग द्वेष के विलय का संकल्प करना।[६]

१५. गुरु और स्थविर से मार्गदर्शन लेना।

१६. अज्ञानी या आसक्त का संग त्याग करना।

१७. स्वाध्याय में लीन रहना।

१८. ध्यान में लीन रहना।

१९. सूत्रार्थ का चिंतन करना।

२०. धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना।[७]

१. आयारो, ४/८५ : पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।
२. उत्तरज्झयणाणि, ३२/१०१।
३. सूयगडो १/१५/९ इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा उ ते जणा।
४. प्रश्नव्याकरण, २/४ ५. वही, १९/१०।
६. उत्तरज्झयणाणि, ३२/२१। ७. उत्तरज्झयणाणि, ३२/३।

२१. शुद्धाहार–निर्दोष और मादक वस्तु वर्जित आहार।

२२. कुशल साथी[१] का संपर्क।

२३. विकारपूर्ण सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिंतन, अकीर्तन।[२]

२४. काय क्लेश–आसन करना, साजसज्जा न करना।

२५. ग्रामानुग्राम विहार–एक जगह अधिक न रहना।

२६. रूखा भोजन–रूखा आहार करना।

२७. अनशन–आहार का परित्याग कर देना।[३]

२८. विषय की नश्वरता का चिंतन करना।[४]

२९. इन्द्रियों का बहिर्मुखी व्यापार न करना।[५]

३०. भविष्य दर्शन–भविष्य में होने वाले विपरिणाम को देखना।[६]

३१. भोग में रोग का संकल्प करना।[७]

३२. अप्रमाद–सदा जागरूक रहना–जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उच्च मान उसका सेवन करने लगता है, उसे पहले ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न होती है, फिर क्रमशः आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति संदेह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य नाश हो जाता है।[८]

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि ज्वाला को पार कर जाता है, वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम भोग की आसक्ति को पार कर जाता है।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है–मोक्ष प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मोह का बंधन टूटता है, त्यों-त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक बंधन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किए गए हैं–

१. सुलभ बोधि–यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

२. सम्यक् दृष्टि–यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता, किंतु उसका ज्ञान सम्यक् होता है।

३. अणुव्रती–यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम स्थल बताए गए हैं–

पांच शीलव्रतों और तीन गुणव्रतों का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२/४,१५।
२. वही, ३२/४,१५।
३. आयारो ५/८३ : अवि आहारं वोच्छिंदेज्जा।
४. दसवेआलियं ८/५९
५. उत्तरज्झयणाणि ३२/१२
६. सूयगडो १/१३/४/१४
७. वही, १/१/२/३/२।
८. उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन १६।

सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है।

अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध करना तीसरा विश्राम है।

अंतिम मारणांतिक संलेखना करना चौथा विश्राम है।

रूपक की भाषा में–

एक भारवाहक बोझ से दबा जा रहा था। उसे जहां पहुंचना था, वह स्थान वहां से बहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुंच अपनी गठरी बाएं से दाहिने कंधे पर रख ली।

थोड़ा आगे बढ़ा और देह चिंता से निवृत्त होने के लिए गठरी नीचे रख दी।

उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लंबा था। वजन भी बहुत था। इसलिए उसे एक सार्वजनिक स्थान में विश्राम लेने को रुकना पड़ा।

चौथी बार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वहीं जा ठहरा, जहां उसे जाना था।

४. प्रतिमाधर–यह चौथा स्तर है। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है।

५. प्रमत्त मुनि–यह पांचवां स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

६. अप्रमत्त मुनि–यह छठा स्तर है। प्रमत्त मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है, किंतु अप्रमत्त मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद दशा में वीतराग भाव आता है, केवलज्ञान होता है।

७. अयोगी–यह सातवां स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियों की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलंबन लिया जाता है। हिंसा हेय है-यह जानते हुए भी उसे सब नहीं छोड़ सकते। साधना के तीसरे स्तर में हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं–

हिंसा

स्थावर जीव — त्रसजीव

संकल्पजा — आरंभजा

सापराध — निरपराध

सापेक्ष — निरपेक्ष

गृहस्थ के लिए आरंभजा–कृषि, वाणिज्य आदि में होनेवाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुंब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए वध, बंध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्प पूर्वक निरपराध त्रसजीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यह उसका अहिंसा अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढ़ता है, तब वह मुनि बनता है।

भूमिका भेद को समझकर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

साधना के सूत्र

१. अप्रमाद

'आर्यो! आओ।' भगवान ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान ने पूछा–'आयुष्मन् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?'

गौतम आदि श्रमण निकट आए, वंदना की, नमस्कार किया। विनम्र भाव से बोले– 'भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान कहें। हम भगवान से यह जानने को उत्सुक हैं।'

भगवान बोले–'आर्यो! जीव दुःख से डरते हैं।'

गौतम ने पूछा–'भगवन्! दुःख का कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?'

भगवान–'गौतम! दुःख का कर्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।'

गौतम–भगवन्! दुःख का अंत कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?'

भगवान–'गौतम! दुःख का अंत कर्ता जीव है और उसका कारण अप्रमाद है।'[१]

२. उपशम

मानसिक संतुलन के बिना कष्ट सहन की क्षमता नहीं आती। उसका उपाय उपशम है। व्याधियों की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन भावना और उत्कर्षभावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है, इसलिए भगवान ने कहा–'जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम है; अकषाय, अदंड, निःशल्य और अभय है, हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से

१. ठाणं ३/३३६

मुक्त है, ऐहिक और पारलौकिक बंधन से मुक्त है, पूजा और प्रहार में सम है, आहार और अनशन में सम है, अप्रशस्त वृत्तियों का संवरण करने वाला है, अध्यात्म–ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है; श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में निष्ठावान है–वही भावितात्मा श्रमण है।'

भगवान ने कहा–'कोई श्रमण कभी कलह में फंस जाए तो वह तत्काल सम्हलकर उसे शांत कर दे। वह क्षमा याचना कर ले। संभव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न उठे, वंदना करे या न करे, साथ में खाए या न खाए, साथ में रहे या न रहे, कलह को उपशांत करे या न करे, किंतु जो कलह का उपशमन करता है, वह धर्म की आराधना है, जो उसे शांत नहीं करता, उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।'

गौतम ने पूछा–'भगवन्! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए?'

भगवान ने कहा–'गौतम! श्रामण्य उपशम प्रधान है। जो उपशम करेगा, वही श्रमण साधक या महान है।'

उपशम विजय का मार्ग है। जो उपशम प्रधान होता है, वही मध्यस्थ भाव और तटस्थ नीति को बरत सकता है।

३. साम्य-योग

जाति और रंग का गर्व कौन कर सकता है? यह जीव अनेक बार ऊंची और अनेक बार नीची जाति में जन्म ले चुका है। यह जीव अनेक बार गोरा और अनेक बार काला बन चुका है।

जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो हृष्ट और रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है।

४. तितिक्षा

भगवान ने कहा–'गौतम! अहिंसा का आधार तितिक्षा है। जो कष्टों से घबराता है, वह अहिंसक नहीं हो सकता।'

इस शरीर को खपा।[१] साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है।[२]

इस शरीर को तपा।[३] साध्य तपने से सधता है।[४]

५. अभय

लोक विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र प्रयोग नहीं करता, किंतु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते हैं।[५]

१. आयारो ४/३२ : कसेहि अप्पाणं।
२. सूयगडो ११/९/२/३० :.......आतहितं दुक्खेण लब्भते॥
३. आयारो ४/३२ : जरेहि अप्पाणं।
४. दसवेआलियं ८/२७ : देहे दुक्खं महाफलं।
५. आयारो १/१३५, १३६

अणुबम की प्रयोग भूमि केवल जापान है। उसकी भय व्याप्ति सभी राष्ट्रों में है।

जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

६. आत्मानुशासन

संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है।[१] संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है।[२] नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है।[३]

भगवान ने कहा–गौतम! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है।[४] कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है।'[५]

लोक का सिद्धांत देख–कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख, सब जीवों में समता देख। शस्त्र प्रयोग मत कर। दुःख मुक्ति का मार्ग यही है।[६]

कषायविजय, कामविजय या इन्द्रियविजय, मनोविजय, शस्त्रविजय और साम्य दर्शन–ये दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं। इन्द्रिय विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त्त नहीं होते।

७. संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति)–इन पांच आस्रवों के द्वारा विजातीय तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने बंधन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश द्वार खुला ही रहता है।

भगवान ने दो प्रकार का धर्म कहा है–संवर और तपस्या (निर्जरा)। संवर के द्वारा नए विजातीय द्रव्य के संग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व संचित संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नए सिरे से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है।[७]

साधना का मानदंड

भगवान ने कहा–'गौतम! साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष-उत्कर्ष या अवरोह-आरोह का मानदंड संवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।'

---

१. आयारो, ३/१३ : आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

२. उत्तरज्झयणाणि ३२/१९ — ३. आयारो ३/१७

४. वही, ३/६४ : पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

५. दसवेआलियं २/५ — ६. आयारो ३/२९

७. सूयगडो १/१५/६,७ : तुट्टति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वआ.....।
अकुव्वओ णवं, णत्थि, कम्मं नाम विजाणई॥

संयम और आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम बिंदु एक है। पूर्ण संयम यानी असंयम का पूर्ण अंत, असंयम का पूर्ण अंत यानी आत्मा का पूर्ण विकास।

जो व्यक्ति भोग तृष्णा का अंतकर है, वही इस अनादि दुःख का अंतकर है।[१]

दुःख के आवर्त्त में दुःखी ही फंसता है, अदुःखी नहीं।

उस्तरा और चक्र अंत भाग से चलते हैं। जो अंत भाग से चलते हैं, वे ही साध्य को पा सकते हैं।

विषय, कषाय और तृष्णा की अंतरेखा के उस पार जिनका पहला चरण टिकता है, वे ही अंतकर-मुक्त बनते हैं।

गूढ़वाद

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं–१. बहिरात्मा, २. अंतरात्मा, ३. परमात्मा।

जिसे अपने आपका भान नहीं, वही बहिरात्मा है। अपने स्वरूप को पहचाननेवाला अंतरात्मा है। जिसका स्वरूप अनावृत हो गया, वह परमात्मा है। आत्मा परमात्मा बने, शुद्ध रूप प्रकट हो, उसके लिए जिस पद्धति का अवलंबन लिया जाता है, वही 'गूढ़वाद' है।

परमात्म रूप का साक्षात्कार मन की निर्विकार स्थिति से होता है, इसलिए वही 'गूढ़वाद' है। मन के निर्विकार होने की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं, सरल नहीं। सहजतया उसका ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी उसका क्रियात्मक व्यवहार कठिन है, इसीलिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है।

आत्मविकास के पांच सूत्र हैं–

पहला सूत्र है–अपनी पूर्णता और स्वतंत्रता का अनुभव–मैं पूर्ण हूं, स्वतंत्र हूं। जो परमात्मा है, वह मैं हूं और जो मैं हूं, वही परमात्मा है।

दूसरा सूत्र है–चेतन-पुद्‌गल विवेक–मैं भिन्न हूं, शरीर भिन्न है। मैं चेतन हूं, वह अचेतन है।

तीसरा सूत्र है–आनंद बाहर से नहीं आता। मैं आनंद का अक्षयकोष हूं। पुद्‌गल-पदार्थ के संयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक आनंद को दबा कर वह व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है–पुद्‌गल विरक्ति या संसार के प्रति उदासीनता। पुद्‌गल से पुद्‌गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नहीं, परतृप्ति में स्व का जो आरोप है, वह उचित नहीं।

जो पुद्‌गल वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्‌गल संयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है।

पांचवां सूत्र है–ध्येय और ध्याता का एकत्व। ध्येय परमात्म पद है। वह मुझसे भिन्न नहीं है। ध्यान आदि की समग्र साधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रकट हो जाएगा।

---

१. सूयगडो, १/१५/१७

गूढ़वाद के द्वारा साधक को अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियां और योगजन्य विभूतियां प्राप्त होती हैं।

अध्यात्म शक्ति संपन्न साधक इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को साक्षात् जान लेता है।

संक्षेप में गूढ़वाद का मर्म आत्मा, रहस्यमय पदार्थ है, की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।

अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास में वह दिन अति महत्त्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धांत व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा। मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम ने पूछा–'भगवन्! जीव सक्रिय है या अक्रिय?'

भगवान ने कहा–'गौतम! जीव सक्रिय भी है और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं–मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी अवस्था प्रतिपन्न) जीवों को छोड़ शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते हैं।'

शरीरधारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था, पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'–इस संवित् का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है' यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवों में भी होता है, किंतु शरीर के बिना वह प्रस्फुटित नहीं होता। इसलिए वह लब्धि वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि वीर्य (योग्यतात्मक वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है, इसलिए उसे 'करण वीर्य' की संज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है।[१]

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है शरीर मुक्ति, बंधन-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बंधन, बंधन से शरीर और शरीर से संसार–यह परंपरा है। मुक्त जीव अशरीर, अबंध और अक्रिय होते हैं। अक्रियावाद की स्थापना के बाद क्रियावाद के अन्वेषण की प्रवृत्ति बढ़ी। क्रियावाद की खोज में से 'अहिंसा' का चरम विकास हुआ।

अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था–विश्राम या कार्य-निवृत्ति। थका हुआ व्यक्ति थकान मिटाने के लिए सोचता, बोलता और न ही गमनागमनादि करता। उसी का नाम था 'अक्रिया', किंतु चित्तवृत्तिनिरोध, मौन और कायोत्सर्ग–एतद्रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण साध्य की सिद्धि के लिए है-यह अनुभवगम्य नहीं हुआ था।

कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है।[२] ज्योंही यह कर्म निवृत्ति का घोष प्रबल हुआ, त्योंही व्यवहार मार्ग का द्वंद्व छिड़ गया। कर्म जीवन के इस छोर

---

१. उत्तरज्झयणाणि ३२/३ २. सूयगडो १/१०/१५

से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करने वाले मुक्त नहीं बनते। उसे नहीं करनेवाले जीवन-धारण भी नहीं कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की बात तो दूर रही।

इस विचार संघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति) शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है, पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म।[१] प्रमत्त का कर्म बाल वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पंडित वीर्य होता है। पंडित वीर्य असत् क्रिया रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है–मोक्ष का साधन है।

'शस्त्र शिक्षा, जीव वध, माया, काम भोग, असंयम, वैर, राग और द्वेष–ये सकर्म वीर्य हैं। बाल व्यक्ति इनसे घिरा रहता है।'[२]

'पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय-संगोपन, शरीर संयम, वाणी संयम, मान-माया परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यानयोग और काय-व्युत्सर्ग–ये अकर्म वीर्य हैं। पंडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।[३]

साधना के पहले चरण में ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नहीं है। मुमुक्षु साधना की पूर्व भूमिकाओं में क्रिया प्रवृत्त रहता है, किंतु उसका लक्ष्य अक्रिया ही होता है, इसलिए वह कुछ भी न बोले। अगर बोलना आवश्यक हो तो वह भाषा समिति (दोष रहित पद्धति) से बोले। वह चिंतन न करे। अगर उसके बिना न रह सके तो आत्महित की बात ही सोचे, धर्म्य और शुक्ल ध्यान ही ध्याए। वह कुछ भी न करे। अगर किए बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया शोधन का प्रकरण है। इस चिंतन ने संयम, चारित्र, प्रत्याख्यान आदि साधनों को जन्म दिया और उनका विकास किया।

शरीर की दुष्प्रवृत्ति सतत नहीं होती। निरंतर जीवों को मारनेवाला वधक शायद ही मिले। निरंतर असत्य बोलनेवाला और बुरा मन बर्ताने वाला भी नहीं मिलेगा, किंतु उनकी अनुपरति (अनिवृत्ति) नैरंतरिक होती है। दुष्प्रयोग अव्यक्त अनुपरति का ही व्यक्त परिणाम है। अनुपरति जागरण और निद्रा दोनों दशाओं में समान रूप होती है। इसे समझे बिना आत्म साधना को नहीं समझा जा सकता। इसी को लक्ष्य कर भगवान महावीर ने कहा है–असंयमी मनुष्य जागता हुआ भी सोता है और संयमी मनुष्य सोता हुआ भी जागता है।[४]

मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्यथा से सर्वादिक् समग्रतया मुक्ति पाने चला, तब उसे सबसे पहले दुष्प्रवृत्ति छोड़ने की बात सूझी। आगे जाने की बात संभवतः उसने नहीं सोची,

---

१. सूयगडो १/८/३ : पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसओ वावि, बालंपंडियमेव वा॥

२. वही, १/८/४, ९

३. वही, १/८/४, ९

४. आयारो ३/१ : सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।

किंतु अन्वेषण की गति अबाध होती है। शोध करते-करते उसने जाना कि व्यथा का मूल दुष्प्रवृत्ति नहीं, किंतु उसकी अनुपरति है। ज्ञान का क्रम आगे बढ़ा। व्यथा का मूल कारण जान लिया गया।

इस प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण गवेषणा हुई–वह है प्राणातिपात से हिंसा के पार्थक्य का ज्ञान। परितापन और प्राणातिपात–ये दोनों जीव से संबंधित हैं। हिंसा का संबंध जीव और अजीव दोनों से है। द्वेष अजीव के प्रति भी हो सकता है, किंतु अजीव के परिताप और प्राणातिपात–ये नहीं किए जा सकते। प्राणातिपात का विषय छह जीवनिकाय हैं।[१]

प्राणातिपात हिंसा है, किंतु हिंसा उसके अतिरिक्त भी है। असत्य वचन, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह भी हिंसा है। इन सबमें प्राणातिपात का नियम नहीं है। मृषावाद का विषय सब द्रव्य हैं।[२] अदत्तादान का विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य हैं।[३] आदान ग्रहण–धारण योग्य वस्तु का ही हो सकता है, शेष का नहीं। ब्रह्मचर्य का विषय रूप और रूप के सहकारी द्रव्य हैं।[४] परिग्रह के विषय 'सब द्रव्य' हैं।[५] परिग्रह का अर्थ है मूर्च्छा या ममत्व। यह अति लोभ के कारण सर्व वस्तु विषयक हो सकता है।

ये पांच–आस्रव हैं। इनके परित्याग का अर्थ है 'अहिंसा'।

१. प्राणातिपात विरमण, २. मृषावाद विरमण, ३. अदत्तादान विरमण, ४. अब्रह्मचर्य विरमण, ५. परिग्रह विरमण–ये पांच संवर हैं। आस्रव क्रिया है। वह 'संसार' का कारण है। संवर अक्रिया है। वह मोक्ष का कारण है।[६]

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

प्रत्येक व्यक्ति जीवन के आरंभ में अवादी होता है, किंतु जैसे ही वह आलोचना के क्षेत्र में आता है, वैसे ही वाद उसके पीछे लग जाते हैं। वास्तव में वह वही है, जो शक्तियां उसका अस्तित्व बनाए हुए हैं, किंतु देश, काल और परिस्थिति की मर्यादाएं, वह जो है, उससे भी उसे और अधिक बना देती है। इसीलिए पारमार्थिक जगत में जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत में समष्टिवादी बन जाता है।

निश्चय दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। संज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म मृत्यु वैयक्तिक हैं। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोगता। सुख-दुःख का संवेदन भी वैयक्तिक है।[७]

---

१. प्रज्ञापना, पद २२/१० : छसु जीवणिकाएसु।

२. वही, पद २२/१३ : सव्वदव्वेसु।

३. वही, पद २२/१५ : गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु।

४. वही, पद २२/१७ : रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु।

५. वही, पद २२/१९ : सव्वदव्वेसु।

६. वीतरागस्तोत्र १९/६

७. सूयगडो २/१ : अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परिवायइत्ति, अन्नेण कडं अन्नो न परिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरई, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा।

सामूहिक अनुभूतियां कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन में उतर नहीं आतीं। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से संबंधों की कल्पना जुड़ जाती है, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा में उन पर कुछ भी बीते, मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शत्रु जैसे मान्यता की वस्तु है, वैसे मित्र भी। शत्रु की हानि से प्रमोद और मित्र की हानि से दुःख, शत्रु के लाभ से दुःख और मित्र के लाभ से प्रमोद जो होता है, वह मान्यता से आगे कुछ भी नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र।[१]

निश्चय दृष्टि उपादान प्रधान है। उसमें पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है, इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओं को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ से अभिन्न मान लेता है। समूहगत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग रहकर कोई व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है, वह अपने कर्तव्यों को नहीं निभा सकता। इसमें परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुड़ने की, संवेदनशीलता की बात होती है।

जैन दर्शन का मर्म नहीं जानने वाले इसे नितांत व्यक्तिवादी बताते हैं, पर यह सर्वथा सच नहीं है। वह अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है, किंतु व्यावहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध नहीं करता। निश्चय दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्मनिष्ठ ही स्वीकार करता है, इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य आत्मा को पर समयरत कहा है।[२]

औपचारिक कर्तृत्व भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुदार भी नहीं है। इसलिए–'सिद्ध मुझे सिद्धि दें'–ऐसी प्रार्थनाएं की जाती हैं।

प्राणिमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नहीं, आत्मतुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौहार्द है। इसी में से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

---

२. उत्तरज्झयणाणि २०/३७ : अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।

३. पंचास्तिकाय १७३ : अण्णाणदो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खं मोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो॥

3. श्रमण संस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोड़कर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना—ये दोनों विचारधाराएं यहां रही हैं। दोनों का साध्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद सिर्फ प्रक्रिया में है। पहली कर्म के संन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म संन्यास साध्य की ओर द्रुत गति से जाने का क्रम है और कर्म योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढ़ता है। शोधन का मतलब संन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अंश का संन्यास होता है, उतने ही अंश में वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म संन्यास का अनुगामी मंद क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व कर्म निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का संन्यास प्रवृति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिक निकट है।

जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धांत पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़ना, सत् अंश का साधन के रूप में अवलंबन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—असत् प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक व्रत का ग्रहण और उसकी साधन सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। कोरा ममत्व त्याग हो, पदार्थ त्याग न हो, यह मार्ग पहले क्षण में सरस भले लगे, पर अंततः सरस नहीं है। पदार्थ संग्रह अपने आप में सदोष या निर्दोष कुछ भी नहीं है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुड़कर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही संग्रह का संक्षेप होने लगता है और वह संन्यास की दशा में जीवन निर्वाह का अनिवार्य साधनमात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। संस्कारों का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ संग्रह के प्रति अल्प मोह हो, किंतु यह सामान्य विधि नहीं है। पदार्थ संग्रह से दूर रहकर ही निर्मोह संस्कार को विकसित किया जा सकता है, संस्कारी दशा का लाभ लिया जा सकता है। यह सामान्य विधि है।

यह पदार्थवाद या जड़वाद का युग है। जड़वादी दृष्टिकोण संन्यास को पसंद ही नहीं करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नहीं, किंतु जो आत्मवादी और निर्वाणवादी हैं, उन्हें कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया में नहीं भटक जाना चाहिए। संन्यास-जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नहीं होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म मनीषियों के लिए चिंतनीय है।

चिंतन के आलोक में आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तब तक शरीर सुख ही सबकुछ रहा। जब मनुष्य में विवेक जागा, आत्मा और शरीर दो हैं—यह भेद ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य

बन गया और शरीर साधन मात्र। आत्मज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणों ने कहा–दृष्टि मोह आत्मदर्शन में बाधा डालता है और चारित्र मोह आत्म-उपलब्धि में। आत्म-साक्षात्कार के लिए संयम किया जाए, तप तपा जाए। संयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, तप से संचित मोह का व्यूह तोड़ा जा सकता है।

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है–'मैं नहीं जानता, मैं कौन हूं अथवा कैसा हूं?'[१]

वैदिक संस्कृति का जब तक श्रमण-संस्कृति से संपर्क नहीं हुआ, तब तक उसमें आश्रम दो ही थे–ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ऋषियों को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध बीज मिला, तब से आश्रम परंपरा का विकास हुआ। वे क्रमशः तीन और चार बने।

वेद, संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास आश्रम आवश्यक नहीं कहा गया है, बल्कि जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है।[२] उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है, क्योंकि कर्मकांड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरंभ उपनिषदों में ही पहले-पहल देखा जाता है।[३]

श्रमण परंपरा में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है और वैदिक परंपरा में ब्राह्मणों का। उपनिषदों में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिससे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि मुनियों ने क्षत्रिय राजाओं से आत्मविद्या सीखी।

१. नचिकेता ने सूर्यवंशी शाखा के राजा वैवस्वत यम के पास आत्मा का रहस्य जाना।[४]

२. सनत्कुमार ने नारद से पूछा–'बतलाओ, तुमने क्या पढ़ा है?' नारद बोले–'भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पांचवां वेद...आदि। हे भगवन्! यह सब मैं जानता हूं। भगवन्! मैं केवल मंत्रवेत्ता ही हूं, आत्मवेत्ता नहीं हूं।'

सनत्कुमार आत्मा की एक–एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए। जहां कुछ नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है, किंतु जहां और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है–**यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।**[१]

---

१. ऋग्वेद १/१६४/३७ : न वि जानामि यदिवेदमस्मि।

२. वेदान्तसूत्र (शांकरभाष्य) ३/४/१७–२०

३. गीता रहस्य पृष्ठ ३४४

४. कठोपनिषद्,

५. छान्दोग्य उपनिषद् ७/३४

३. प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महाश्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है? को न आत्मा किं ब्रह्मेति? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण पुत्र उद्दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हें धन देना चाहा। उन मुनियों ने कहा–हम धन लेने नहीं आए हैं। आप वैश्वानर–आत्मा को जानते हैं, इसलिए वही हमें बतलाइए, फिर राजा ने उन्हें वैश्वानर–आत्मा का उपदेश दिया।[१] काशी नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया।[२]

४. पांचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा–गौतम! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए संपूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है।[३] प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे में पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचारांग के आरंभ में कहा गया है–'कुछ लोग नहीं जानते कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा या नहीं होगा? मैं कौन हूं? पहले कौन था? यहां से मरकर कहां होऊंगा?'[४]

श्रमण परंपरा इन शाश्वत प्रश्नों के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा संभव नहीं, किंतु उसका दृष्टिकोण देहलक्षी नहीं रहा है। कहा जाता है कि श्रमण परंपरा ने समाज रचना के बारे में कुछ सोचा ही नहीं। इसके कुछ तथ्य भी हैं। भगवान ऋषभदेव ने पहले समाज रचना की और फिर वे आत्म साधना में लगे। भारतीय जीवन के विकास क्रम में उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारंभिक है। इसका उल्लेख वैदिक और जैन–दोनों परंपराओं में प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रंथ समाज व्यवस्था के सुंदर ग्रंथ हैं। वह सच भी है कि जैन-बौद्ध मनीषियों ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शतांश भी समाज व्यवस्था के बारे में नहीं लिखा। इसके कारण भी हैं। श्रमण परंपरा का विकास आत्मलक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण प्राप्ति के लिए शाश्वत सत्यों की व्याख्या में ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज व्यवस्था को वे धर्म से जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म जो आत्मगुण है, को परिवर्तनशील समाज व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुवरूप विकृत हो जाता है।

समाज व्यवस्था का कार्य समाजशास्त्रियों के लिए ही है। धार्मिकों को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधि ग्रंथ हैं, मोक्ष ग्रंथ नहीं। इन विधि-ग्रंथों को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वयं प्रश्नचिह्न बन रहा है।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ५/११/१३

२. वृहदारण्यक उपनिषद् २/१

३. छान्दोग्य उपनिषद् ५/३/७

४. आयारो १/२ : एवमेगेसिं णो णातं भवति, अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?

हिन्दूकोडविल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियों को शाश्वत सत्य का सा रूप मिल गया था। श्रमण परंपरा ने न तो विवाह आदि संस्कारों के अपरिवर्तित रूप का आग्रह रखा और न उन्हें शेष समाज से अलग बनाए रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनों की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन में बाधा न आए, व्रतों में दोष न लगे–

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।।

श्रमण परंपरा ने धर्म को लौकिक पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नहीं हो सकता। लौकिक विधियां भौगोलिक और सामयिक विविधताओं के कारण अनेकरूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' में लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एकमेक कर दिया, इससे रूढ़िवाद को बहुत प्रश्रय मिला है। धर्म शब्द के बहु अर्थक प्रयोग से भी बहुत व्यामोह फैला है। धर्म शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ बैठे। शाश्वत सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओं का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियों को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। लोकमान्य तिलक के शब्दों में–'महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी का कोई काम करना धर्म संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र का ही अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शांति पर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्ष धर्म'–इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है।[१]

श्रमण परंपरा इस विषय में अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर धर्म के साथ लौकिक विधियों को नहीं जोड़ा। इसीलिए वह बराबर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने में सफल रही है और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण परंपरा में भी वैदिकों की भांति जाति और संस्कारों का आग्रह होता तो करोड़ों चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परंपरा का अनुगमन नहीं करते।

आज जो करोड़ों चीनी और जापानी श्रमण परंपरा के अनुयायी हैं, वे इसलिए हैं कि वे अपने संस्कारों और सामाजिक विचारों में स्वतंत्र रहते हुए भी श्रमण परंपरा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वय की भाषा में वैदिक परंपरा जीवन का व्यवहार पक्ष है और श्रमण परंपरा जीवन का लोकोत्तर पक्ष–**वैदिको व्यहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।**

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है। वह उन द्वारा प्राप्त नहीं है।[२]

---

१. गीता रहस्य।

२. कठोपनिषद् २/३ : नैव वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता में दोनों परंपराएं लगभग एकमत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है–निष्कर्म भाव की साधना। इसी का नाम है संयम। पहले चरण में कर्म मुक्ति नहीं होती, किंतु संयम का अर्थ है–कर्म मुक्ति के संकल्प से चलकर कर्म मुक्ति तक पहुंच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे–धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्तक धर्म की देन है। निवर्तक धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था में भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमें जावालोपनिषद्, गौतम धर्मसूत्र आदि में मिलते हैं–ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही बनना, गृह में वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या-संन्यास लेना अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन प्रव्रज्या लेना।[१]

पं. सुखलालजी ने आश्रम विकास की मान्यता के बारे में लिखा है–'जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आए, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा, पर निवर्तक धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अंत में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ–ये दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान में प्रवर्तक धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले वानप्रस्थ सहित तीन और बाद में संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जन व्यापी प्रभाव के कारण अंत में तो यहां तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या मार्ग न्याय प्राप्त है। इस तरह जो निवर्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा जीवन में आज भी देखते हैं।[२]

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह त्याग का सिद्धांत स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियों ने आश्रम पद्धति से जो संन्यास की व्यवस्था की, वह भी यांत्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। संन्यास का मूल अंतःकरण का वैराग्य है। वह सबको आए या अमुक अवस्था के ही बाद आए, पहले न आए, ऐसा विधान नहीं किया जा सकता। संन्यास आत्मिक विधान है, यांत्रिक स्थिति उसे जकड़ नहीं सकती। श्रमण परंपरा ने दो ही विकल्प माने–अगार धर्म और अणगार धर्म–**अगार-धम्मं अणगार-धम्मं च।**[३]

१. जावाल उपनिषद् ४: ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा। यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥

२. दर्शन और चिंतन, पृ. १३७, १३८

३. ओवाइयं ७५

श्रमण परंपरा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नहीं है। साधना के क्षेत्र में नीच-ऊंच का विकल्प नहीं है। वहां संयम ही सब-कुछ है। महावीर के शब्दों में–'कई गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है।'[१]

श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं, संयम है। संयम और तप का अनुशीलन करनेवाले, शांत रहने वाले भिक्षु और गृहस्थ–दोनों का अगला जीवन भी तेजोमय बनता है।[२]

समता धर्म को पालनेवाला, श्रद्धाशील और शिक्षा संपन्न गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मृत्यु के बाद स्वर्ग में जाता है,[३] किंतु संयम का चरम विकास मुनि जीवन में ही हो सकता है। निर्वाण लाभ मुनि को ही हो सकता है–यह श्रमण परंपरा का ध्रुव अभिमत है। मुनि जीवन की योग्यता उन्हीं में आती है, जिनमें तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा–'राजर्षि! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म पोषक कार्य करो।'

नमि राजर्षि बोले–'ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा में कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं आता।'[४]

जिसे शाश्वत घर में विश्वास नहीं, वही नश्वर घर का निर्माण करता है।[५]

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तब गृहवास ही सब कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तब आत्म साक्षात्कार ही सब-कुछ है। गृहवास और गृह त्याग का आधार है-आत्म विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा–'भगवन्! गृह वास असार है और गृहत्याग सार, यह जानकर भला घर में कौन रहे?'

भगवान ने कहा–'गौतम! जो प्रमत्त हो, वही रहे और कौन रहे?'[६]

किंतु यह ध्यान रहे, श्रमण परंपरा वेश को महत्त्व देती भी है और नहीं भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए–इस दृष्टि से वेश परिवर्तन, गृह-वास का त्याग आदि-आदि बाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आंतरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेश में आत्मा मुक्त हो सकता है।[७]

मुक्ति वेश या बाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नहीं होती, किंतु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति में ही होता है। इसे सामान्य मार्ग नहीं

---

१. उत्तरज्झयणाणि ५/२० : संति एगेहिं भिक्खुहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

२. वही, ५/२६-२८

३. उत्तरज्झयणाणि ५/२३–२४

४. वही, ९/४४

५. वही, ९/२६

६. आयारो ५/५८ : पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।

७. नंदी ३१ : अण्णलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा।

माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए बाहरी वातावरण को उसके अनुकूल बनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नहीं। मार्ग में चलनेवाला भटक भी सकता है। जैन आगमों और बौद्ध पिटकों में ऐसा यत्न किया गया है, जिससे साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में विचिकित्सा न हो–इसलिए एकांतवास, दृष्टि संयम, स्वाद विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादों को ध्यान में रखकर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मिक उदय और अनुदय की परंपरा में पलनेवाला पुरुष भटक भी सकता है, किंतु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नहीं है। ब्रह्मचारी संसर्ग से बचे, यह मान्यता भय नहीं, किंतु सुरक्षा है। संसर्ग से बचनेवाले भिक्षु कामुक बने और संसर्ग करनेवाले-साथ-साथ रहनेवाले-स्त्री-पुरुष कामुक नहीं बने–यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धांत नहीं। सिद्धांततः ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पानेवाला ब्रह्मचारी हो सकता है, उसके प्रतिकूल सामग्री में नहीं। मुक्ति और भुक्ति–दोनों साथ-साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण परंपरा में मान्य भी नहीं रहा है, पर उन दोनों की दिशाएं दो हैं और स्वरूपतः वे दो हैं, यह तथ्य कभी भुलाया नहीं गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किंतु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नहीं है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्मलक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्बलता मान सकता है, संपूर्णता नहीं। समाज में लोग भोग प्रधान माने जाते हैं–यह चिरकालीन अनुश्रुति है, किंतु श्रमण धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अंकुश का कार्य किया। **नहि वेरेण वेराइं, सम्मंतीह कदाचन**–इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुंचाया, जिस तक–**जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मृते चापि सुरांगना**–का विचार पहुंच ही नहीं सका।

जैन और बौद्ध शासकों ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से बढ़ाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्यागपरक संस्कृति से नहीं। कई विचारकों ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण परंपरा कर्म-विमुख होकर भारतीय संस्कृति के विकास में बाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक बात है और कर्म का निरसन दूसरी बात। श्रमण परंपरा के अनुसार कोरे ज्ञानवादी जो कहते हैं, किंतु करते नहीं, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं।[१]

सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः–यह जैनों का सर्वविदित वाक्य है। कर्म की समाप्ति मोक्ष में होती है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नहीं जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति में होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दिशा में उसे लगाता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि ५/२० : भणंता अकरेंता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं॥

श्रमण परंपरा के दो पक्ष हैं–गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ जीवन के दो पक्ष होते हैं–लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण परंपरा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भांति एक रूप और अपरिवर्तनशील नहीं मानते। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणों के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नहीं सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतों का विधान किया गया, जबकि श्रमणों के लिए महाव्रतों की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछेक ही हो सकते हैं। समाज का बड़ा भाग गृहस्थ जीवन बिताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष में कौन सा कर्म उचित है और कौन सा अनुचित-इसका निर्णय देने का अधिकार समाजशास्त्र को है, मोक्ष शास्त्र को नहीं। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है कि कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्हीं दोनों से घिरे हुए हैं।[१] प्रमाद कर्म है अप्रमाद अकर्म।[२]

प्रमाद को बाल वीर्य और अप्रमाद को पंडित वीर्य कहा जाता है। जितना असंयम है, वह सब बाल वीर्य या सकर्म वीर्य है और जितना संयम है, वह सब पंडित वीर्य या अकर्म वीर्य है।[३] जो अबुद्ध है, असम्यग्दर्शी है और असंयमी है, उसका पराक्रम प्रमाद-वीर्य बंधनकारक होता है।[४] जो बुद्ध है, सम्यग्दर्शी है और संयमी है उसका पराक्रम अप्रमाद-वीर्य मुक्तिकारक होता है।[५] मोक्ष साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण–दोनों के लिए अप्रमाद वीर्य या अकर्म वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नहीं, किंतु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म मुक्त हो जाना, यही है श्रमण परंपरा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परंपरा को भी यह अमान्य नहीं है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम को क्यों अपनाते? इन दोनों में गृहस्थ जीवन संबंधी कर्मों की विमुखता बढ़ती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नहीं हुई, इसीलिए अगले दो आश्रमों की उपादेयता लगी और उन्हें अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदलकर अपने चारों ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और संन्यासी दोनों ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमों को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परंपरा नहीं बची है। जिस किसी भी परंपरा में संसार त्याग को आदर्श माना है, उसमें संसार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही संसार से विरक्ति है। संसार का मतलब गांव या अरण्य नहीं, गृहस्थ और संन्यासी का वेश नहीं, स्त्री और पुरुष नहीं। संसार का मतलब

---

१. सूयगडो १/८/२
२. वही, १/८/३ : पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
३. वही, १/९/९
४. वही, १/८/२२
५. वही, १/८/२३

है–जन्म-मरण की परंपरा और उसका कारण, वह है–मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है–**उड्ढं सोया, अहे सोया, तिरियं सोया।**

मोहरहित व्यक्ति गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। श्रमण परंपरा कोरे वेश परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान ने कहा–'वह पास भी नहीं है, दूर भी नहीं है। भोगी भी नहीं है, त्यागी भी नहीं है।[१] भोग छोड़ा, आसक्ति नहीं छोड़ी–वह न भोगी है, न त्यागी। भोगी इसलिए नहीं कि वह भोग नहीं भोगता। त्यागी इसलिए नहीं कि वह भोग की वासना त्याग नहीं सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है, जो इच्छापूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है।[२] यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम व्यवस्था श्रौत नहीं है, किंतु स्मार्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार–'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएं हैं, उनकी एकवाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है।[३]

समाज व्यवस्था के विचार से 'कर्म करो'–यह आवश्यक है। मोक्ष साधना के विचार से 'कर्म छोड़ो'–यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई।[४] दूसरी दृष्टि से संन्यास को सर्वश्रेष्ठ कहा गया–**प्रव्रजेच्च परं स्थातुं पारिव्राज्यमनुत्तमम्।**[५]

दोनों स्थितियों को एक दृष्टि से देखने पर विरोध आता है। दोनों को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनों का अपना–अपना क्षेत्र है, विरोध की कोई बात ही नहीं। संन्यास आश्रम के विरोध में जो वाक्य हैं, वे संभवतः उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए। संन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारों को नहीं रुचा, इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के बाद ही संसार-त्याग, संन्यास लेने का विधान किया। गृहस्थाश्रम का कर्तव्य पूरा किए बिना जो श्रमण बनता है, उसका जीवन थोथा और दुःखमय है–यह महाभारत की घोषणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है, किंतु यह समाज व्यवस्था का विरोध अंतःकरण की भावना को रोक नहीं सका।

श्रमण परंपरा में श्रमण बनने का मानदंड यही 'संवेग' रहा है। जिनमें वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके गृहवास है ही। वे घर में रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस समग्र दृष्टिकोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम व्यवस्था का यांत्रिक स्वरूप हृदयंगम नहीं होता। आज के लिए पचहत्तर वर्ष की आयु के बाद संन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नहीं। अब रही कर्म की बात। खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तियां कर्म हैं। लोकमान्य के अनुसार जीना-मरना भी कर्म है।[५]

---

१. आयारो ५/४ : णेव से अंतो, णेव से दूरे।
२. दसवेआलियं २/२, ३
३. गीता रहस्य, पृ. ३३९
४. मनुस्मृति ६/९
५. महाभारत, शांति पर्व, २४४/३
५. गीता रहस्य, पृ. ४५

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निषिद्ध माने गए हैं। गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं।[१] संक्षेप में 'सर्वारंभ-परित्याग' का आदर्श सभी आत्मवादी परंपराओं में रहा है और उसकी आधारभूमि है–संन्यास। गृहवास की अपूर्णता से संन्यास का, भुक्ति की अपूर्णता से मुक्ति का, कर्म की अपूर्णता से ज्ञान का, स्वर्ग की अपूर्णता से अपवर्ग का और प्रवृत्ति की अपूर्णता से निवृत्ति का महत्त्व बढ़ा। ये भुक्ति आदि जीवन के अवश्यंभावी अंग हैं और मुक्ति आदि लक्ष्य–इसी विवेक के सहारे भारतीय आदर्शों की समानांतर रेखाएं निर्मित हुई हैं।

१. मनुस्मृति ६/२५

4. जातिवाद

जातिवाद : दो धाराएं

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक–प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं–एक ब्राह्मण परंपरा की, दूसरी श्रमण परंपरा की। पहली परंपरा ने जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जाति' का सिद्धांत स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जाति' यह पक्ष सामने रखा। इस जन जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बड़ी क्रांति की और इस आंदोलन को बहुत सजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण परंपरा में जहां 'ब्रह्मा' के मुंह से जन्म लेने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्म लेने वाले क्षत्रिय, ऊरु से जन्म लेने वाले वैश्य, पैरों से जन्म लेने वाले शूद्र और अंत में पैदा होनेवाले अंत्यज[१]–यह व्यवस्था थी, वहां श्रमण परंपरा ने–'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुसार होते हैं'[२]–यह घोषणा की। श्रमण परंपरा की क्रांति से जातिवाद की शृंखलाएं शिथिल अवश्य हुईं, पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा, फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रांति की ब्राह्मण परंपरा पर भी गहरी छाप पड़ी। 'चांडाल और मच्छीमार के घर में पैदा होनेवाले व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए, इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है'[३] यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यों में जो हीनता के भाव पैदा किए, वे अंत में छुआछूत तक पहुंच गए। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौन-सी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है, जिसमें एक ऐसी समान शृंखला हो, जो दूसरों में न मिले।[४] मनुष्य एक जाति है। मनुष्य-मनुष्य में समानता है और वह अन्य प्राणियों से विलक्षण भी है।

---

१. ऋग्वेद १०/९०/१२ : ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः,
ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः।

२. (क) उत्तरज्झयणाणि ३३/२५ : कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

(ख) सुत्तनिपात, (आर्गनक भारद्वाज सूत्र १३) न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति बम्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति बम्मणो॥

३. महाभारत : तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्।

४. अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

मनुष्य जाति बहुत बड़ी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका संपर्क है। इससे उसमें भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं, किंतु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकी है, तीसरा रूसी–प्रादेशिक भेद है, पर 'वे मनुष्य हैं', इसमें क्या अंतर है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जलवायु के अंतर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोई बंगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई मुसलमान, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है, कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमें जो-जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग में समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियों में रहने के कारण अनेक वर्गों में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की भाषा, वर्ण, धर्म, कर्म एक-से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदों के कारण मनुष्य जाति में इतना संघर्ष बढ़ गया है कि मनुष्यों को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बड़े-बड़े संग्राम हुए और आज भी उनका अंत नहीं हुआ है। वर्ण भेद, धर्म भेद और छुआछूत के कीटाणुओं से आज भी मनुष्य जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने की आवश्यकता है।

जाति तात्त्विक है?

भारतवर्ष में जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितों ने उनके प्रमुख विभाग चार बतलाए हैं–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति मानने वाली ब्राह्मण परंपरा इनको तात्त्विक तथा शाश्वत मानती है और कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण–परंपरा के मतानुसार ये अतात्त्विक हैं, अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चयदृष्टि से देखें तो तात्त्विक मनुष्य जाति है।[१] 'मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है, पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं। कर्म के अनुसार जाति है।[२] कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है। रत्नप्रभ-सूरि ने बहुत सारे शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी संतानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आए और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार दृष्टि में ब्राह्मण कुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण, वैश्य कुल में जन्म लेनेवाला वैश्य–ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता, कारण कि ब्राह्मण कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्य-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा

---

१. आदिपुराण ३८/४५ : मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

२. पद्मपुराण ६/२०८–२०९ : लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥

जाए, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के लिए थे या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाजशास्त्रियों की सूझ है, उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं–विद्या युक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार (आदान–प्रदान) और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होंने चार वर्ग बनाए और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिए–विद्यायुक्त सदाचार प्रधान ब्राह्मण, रक्षा प्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय प्रधान वैश्य और शिल्प प्रधान शूद्र। ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाए तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाए, तब भी इतना-सा तो कहना ही होगा कि जहां यह जातिगत अधिकार के रूप में कर्म को विकसित करने की योजना है, वहां व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विनाश की भी योजना है। एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान है, फिर भी वह पढ़ नहीं सकता, क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है। 'शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है'–यह इस समाज व्यवस्था एवं तद्गत धारणा का महान दोष है, इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण व्यवस्था के निर्माण में समाज की उन्नति एवं विकास का ही ध्यान रहा होगा, किंतु आगे चलकर इसमें जो बुराइयां आईं, वे और भी इसका अंग-भंग कर देती हैं। एक वर्ग का अहंभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत वर्ग व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएं उत्पन्न नहीं होतीं। सामयिक क्रांति के फलस्वरूप बहुत सारे शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्याप्रधान और आचार प्रधान बने। क्या वे सही अर्थ में ब्राह्मण नहीं हैं? बहुत सारे विद्याशून्य और आचारशून्य ब्राह्मण बने, क्या वे सही अर्थ में अब्राह्मण नहीं हैं? वर्णों के गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं।

कौन-सी जाति ऊंची और कौन-सी नीची–इसका भी एकांत दृष्टि से उत्तर नहीं दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहुसंख्यकों के आचार-विचार सुसंस्कृत और संयम प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है।[१] व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मानदंड है, किंतु इस दिशा में दोनों की संगति नहीं होती। वास्तविक दृष्टि में जहां संयम की प्रधानता रहती है, वहां व्यवहार दृष्टि में अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालों का इसके विरुद्ध संघर्ष चालू रहे–यही उसके आधार पर पनपनेवाली बुराइयों का प्रतिकार है।

---

१. (क) धर्म प्रकरण, परिच्छेद १७ : न जातिनियतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपशील–ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः।।
संयमो नियमः शीलं, तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां, सा जातिर्महती सताम्॥

(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार २८ : सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गरान्तरौजसम्।।

जैनों और बौद्धों की क्रांति का ब्राह्मणों पर प्रभाव पड़ा, किंतु महावीर-निर्वाण की दूसरी सहस्राब्दी में जैन आचार्य भी जातिवाद से प्रभावित हो गए, यह एक तथ्य है। इसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर जातिवाद का असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

मनुष्य जाति एक है

जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह तात्त्विक वस्तु नहीं है। शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति का भेद नहीं जान पड़ता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्मपद्धति भी एक है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जाति-कृत भेद है, वह परिकल्पित है।[१]

मनुष्य जाति एक है। भगवान ऋषभदेव राजा नहीं बने, तब तक वह एक ही रही। वे राजा बने, तब वह दो भागों में बंट गई—जो व्यक्ति राजाश्रित बने, वे क्षत्रिय कहलाए और शेष शूद्र।

कर्मक्षेत्र की ओर मनुष्य जाति की प्रगति हो रही थी। अग्नि की उत्पत्ति ने उसमें एक नया परिच्छेद जोड़ दिया। अग्नि ने वैश्य वर्ग को जन्म दिया। लोहार, शिल्पी और विनिमय की दिशा खुली। मनुष्य जाति के तीन भाग बन गए। भगवान साधु बने। भरत चक्रवर्ती बना। उसने स्वाध्यायशील मंडल स्थापित किया। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य जाति के चार भाग हो गए।[२] युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन चार वर्णों के संयोग से अनेक उपवर्ण और जातियां बन गईं।[३]

वैदिक विचार के अनुसार चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध हैं। जैन दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नहीं हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया भेद की भित्ति पर हुआ है।[४]

उच्चता और नीचता

उच्चत्व और नीचत्व नहीं होता, यह अभिमत नहीं है। वे हैं, किंतु उनका संबंध व्यक्ति के जीवन से है, रक्त परंपरा से नहीं। ब्राह्मण परंपरा में गोत्र रक्त परंपरा का पर्यायवाची माना जाता था। जैन परंपरा में गोत्र शब्द का व्यवहार जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य—इनके प्रकर्ष और अपकर्ष दशा का सूचक था।

---

१. उत्तरपुराण : वर्णाकृत्यादि भेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्राद्यः गर्भाधानप्रवर्त्तनात्।।
नास्ति जातिकृतो भेदो, मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते।।

२. आचारांगनिर्युक्ति १९ : एक्का मणुस्सजाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे।
तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि।।

३. वही, २०-२७

४. वरांगचरित्र २५/११: क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद,
दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति।
न चान्यथा वर्णचतुष्यं स्यात्।।

गोत्र के दो भेद हैं—उच्च और नीच। पूज्य और सामान्य व्यक्ति का गोत्र उच्च तथा अपूज्य और असामान्य व्यक्ति का गोत्र नीच होता है। 'गोत्र' शब्द का यह व्यापक अर्थ है। यह गोत्र कर्म से संबंधित है। साधारणतया गोत्र का अर्थ होता है—वंश, कुल और जाति।

गोत्रकर्म के साथ जाति का संबंध जोड़कर कुछ जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्रकर्म के उच्च और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं', तब जैन धर्म जातिवाद का समर्थक कैसे नहीं है? उनका तर्क गोत्र कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। गोत्र कर्म न तो लोक प्रचलित जातियों का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से संबंध रखता है।

समृद्धि की अपेक्षा भी जैनसूत्रों में कुल के उच्च-नीच—ये दो भेद बताए गए हैं। पुरानी व्याख्याओं में जो उच्च कुल के नाम गिनाए हैं, वे आज लुप्तप्राय हैं। इन तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र कर्म मनुष्य कल्पित जाति का आभारी है।

जिन देशों में वर्ण व्यवस्था या जन्मगत ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहां गोत्र कर्म की परिभाषा क्या होगी? गोत्र कर्म संसार के प्राणिमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का संबंध नहीं है।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य।

जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र कर्म के फल हैं। नीच गोत्र कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र कर्म के फलों पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से संबंध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति में भी आठों प्रकृतियां 'उच्चगोत्र' की ही हों या 'नीचगोत्र' की ही हों, यह कोई नियम नहीं। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार योग्य और प्रतिष्ठा-प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च गोत्र कर्म भोग रहा है और रूप तथा बल से नीच गोत्रकर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप में सुख का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च गोत्र और नीच गोत्र का भी उदय होता रहता है, इस अध्ययन के पश्चात् गोत्र कर्म और लोक प्रचलित जातियां सर्वथा पृथक् हैं—इसमें कोई संदेह नहीं रहता। यद्यपि जाति और कुल का अर्थ व्यवहार सिद्ध जाति और कुल से जोड़ा गया है, किंतु यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं है। यह तो स्थूल दृष्टि से किया गया विचार या बोध सुलभता के लिए प्रस्तुत किया गया उदाहरण मात्र है।

जातिभेद केवल मनुष्यों में है और गोत्र कर्म का संबंध प्राणिमात्र से है, इसलिए उसके फलरूप में मिलनेवाले जाति और कुल प्राणिमात्र से संबंध रखनेवाले ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक योनि में उत्पन्न होनेवाले अनेक वर्ग[१]। ये (जातियां और कुल) उतने ही व्यापक हैं, जितना कि गोत्र

१. आचारांगवृत्ति १/६

कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति स्थान बड़ा भारी, स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्बल। इसका फलित यह होता है–जाति की अपेक्षा 'उच्चगोत्र'–विशिष्ट जन्म स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच गोत्र'-निकृष्ट जन्म स्थान। जन्म स्थान का अर्थ होता है–मातृपक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही बात है। सिर्फ इतना अंतर है कि कुल में पितृपक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति स्थान की विशेषता होती है और कुल में उत्पादक अंश की।[१]

'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः।'[२]

'मातृसमुत्था जातिः।'[३]

'जातिगुणवन्मातृकत्वम्।'[४]

'कुलगुणवत् पितृकत्वम्।'[५]

इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं हैं, वे सब जाति और कुल का संबंध उत्पत्ति से जोड़ती हैं।

जाति परिवर्तनशील है

जातियां सामयिक होती हैं। उनके नाम और उनके प्रति होने वाला प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का भाव बदलता रहता है। जैन आगमों में जिन जाति, कुल और गोत्रों का उल्लेख है, उनका अधिकांश भाग आज उपलब्ध भी नहीं है।

१. अंबष्ठ, २. कलंद, ३. वैदेह, ४. वैदिक, ५. हरित, ६. चुंचुण–ये छह प्रकार के मनुष्य जाति आर्य या इभ्य जाति वाले हैं।

१. उग्र, २. भोग, ३. राजन्य, ४. इक्ष्वाकु, ५. ज्ञात, ६. कौरव–ये छह प्रकार के मनुष्य कुलार्य हैं।

१. काश्यप, २. गौतम, ३. वत्स, ४. कुत्स, ५. कौशिक, ६. मंडव, ७. वशिष्ट–ये सात मूल गोत्र हैं। इन सातों में से प्रत्येक के सात–सात अवांतर भेद हैं।[६]

वर्तमान में हजारों नई जातियां बन गई हैं। इनकी यह परिवर्तनशीलता ही इनकी अतात्त्विकता का स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

हरिकेशबल मुनि ने ब्राह्मणकुमारों से कहा–जो व्यक्ति क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्त और परिग्रह से घिरे हुए हैं, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से हीन हैं।[७]

ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्मचारी है।[८]

ब्रह्मर्षि जयघोष विजयघोष की यज्ञस्थली में गए। दोनों में चर्चा चली। जातिवाद का प्रश्न आया। भगवान महावीर की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मुनि बोले–'जो निसंग और निःशोक है और आर्यवाणी में रमता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

---

१. पिंडनिर्युक्ति ४६८ वृत्ति : जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमुग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्।

२. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, ३/२

३. सूयगडो, वृत्ति, ९/१३

४. स्थानांगवृत्ति, पत्र १९८

५. स्थानांगवृत्ति, पत्र १९८

६. ठाणं ७/३०

७. उत्तरज्झयणाणि १२/१४

८. उत्तरज्झयणाणि २५/३० : बंभचेरेण बंभणो।

'जो तपे हुए सोने के समान निर्मल है, राग, द्वेष और भय से अतीत है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो तपस्वी क्षीणकाय, जितेन्द्रिय, रक्त और मांस से अपचित, सुव्रत और शांत है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो क्रोध, लोभ, भय और हास्य-वश असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो सजीव या निर्जीव, थोड़ा या बहुत अदत्त नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो स्वर्गीय, मानवीय और पाशविक किसी भी प्रकार का अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल उससे ऊपर रहता है, उसी प्रकार जो काम–भोगों से ऊपर रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो अस्वाद–वृत्ति, निःस्पृहभाव से भिक्षा लेनेवाले, घर और परिग्रह से रहित और गृहस्थ से अनासक्त हैं, उसे ब्राह्मण कहते हैं।'

'जो बंधनों को छोड़कर, फिर से उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'[१]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–ये कार्य से होते हैं।[२] तात्त्विक दृष्टि से व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते हैं। कार्य-विभाग से मनुष्य का श्रेणी विभाग होता है, वह उच्चता और नीचता का मानदंड नहीं होता।

जाति-गर्व तुच्छता का अभियान

यह जीव नाना गोत्र वाली जातियों में आवर्त करता है। कभी देव, कभी नैरयिक और कभी असुर काय में चला जाता है। वह कभी क्षत्रिय, कभी चांडाल, कभी कीड़ा, कभी जुगनू, कभी कुंथू और चींटी बन जाता है। जब तक संसार नहीं कटता, तब तक वह चलता ही रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी भूमिकाओं का संयोग मिलता ही रहता है।

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है, पर यह कभी न बड़ा बना और न छोटा। इसलिए जाति मद नहीं करना चाहिए। जो कभी नीच गोत्र में जाता है, वह कभी उच्च गोत्र में भी चला जाता है और उच्च गोत्री बन जाता है। यह जानकर भी भला कोई आदमी गोत्रवादी या मानवादी होगा? यह प्राणी अनेक योनियों में जन्म लेता रहा है, तब भला वह कहां गृद्ध होगा।

एक जन्म में एक प्राणी अनेक प्रकार की ऊंच-नीच अवस्थाएं भोग लेता है। इसीलिए उच्चता का अभिमान करना उचित नहीं है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि २५/२०–२९

२. वही, २५/३१

जो साधक जाति आदि का मद करता है, दूसरों को परछाई की भांति तुच्छ समझता है, वह अहंकारी पुरुष सत्य का अनुगामी नहीं हो सकता। वह वस्तुतः मूर्ख है, पंडित नहीं है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र और लिच्छवी—इन विशिष्ट अभिमानास्पद कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति दीक्षित होकर अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता, वही सत्य का अनुगामी होता है। जो भिक्षु परदत्त-भोजी होता है, भिक्षा से जीवन यापन करता है, वह भला किस बात का अभिमान करे?

अभिमान से कुछ बनता नहीं, बिगड़ता है। जाति और कुल मनुष्यों को त्राण नहीं दे सकते। दुर्गति से बचाने वाले दो ही तत्त्व हैं। वे हैं—विद्या और आचरण।

जो साधक साधना के क्षेत्र में पैर रखकर भी गृहस्थ कर्म का आसेवन करता है, जाति आदि का मद करता है, वह पारगामी नहीं बन सकता।

साधना का प्रयोजन मोक्ष है। वह अगोत्र है। उसे जाति, गोत्र के सारे संबंधों से छूटे हुए महर्षि ही पा सकते हैं।

जो पुरुष मिष्टभाषी, सूक्ष्मदर्शी और मध्यस्थ है, वही जाति संपन्न है।

जाति-गर्व का परिणाम

जाति-गर्व का पहला परिणाम सामाजिक दुर्व्यवस्था और विद्रोह है। भगवान महावीर ने इसका पारलौकिक फल भी बहुत अनिष्ट बतलाया है।

कोई पुरुष जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद अथवा किसी दूसरे मद स्थान से उन्मत्त होकर दूसरों की अवहेलना, निंदा और गर्हणा करता है, उनसे घृणा करता है, उन्हें तिरस्कृत और अपमानित करता है—यह दीन है, मैं जाति, कुल, बल आदि गुणों से विशिष्ट हूं—इस प्रकार गर्व करता है, वह अभिमानी पुरुष मरकर गर्भ, जन्म और मौत के प्रवाह में निरंतर चक्कर लगाता है। क्षण भर भी उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती।[१]

१. एक व्यक्ति जातिसंपन्न (शुद्ध मातृक) होता है, कुलसंपन्न (शुद्ध पितृक) नहीं होता।

२. एक व्यक्ति कुलसंपन्न होता है, जातिसंपन्न नहीं होता।

३. एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से संपन्न होता है।

४. एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से ही संपन्न नहीं होता।[२]

जाति और कुल भेद का आधार मातृ प्रधान और पितृ प्रधान कुटुंब व्यवस्था भी हो सकती है। जिस कुटुंब के संचालन का भार स्त्रियों ने वहन किया, उनके वर्ग 'जाति' कहलाए और पुरुषों के नेतृत्व में चलने वाले कुटुंबों के वर्ग 'कुल' कहलाए।

संतान पर पिता-माता के अर्जित गुणों का असर होता है। इस दृष्टि से जाति और कुल का विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किंतु वह सामाजिक उच्चता और नीचता का मानदंड नहीं है।

---

१. सूयगडो २/२/२५

२. ठाणं ४/२२९

समता धर्म में जातिवाद का अनवकाश

जो सम्यक् दृष्टि है, जिन्हें देह और जीव में भेद दर्शन की दृष्टि मिली है, वे देह-भेद के आधार पर जीवभेद नहीं कर सकते। जीव के लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के प्रति देह भेद के आधार पर राग द्वेष नहीं करना चाहिए।[१]

जो व्यक्ति देह भेद के आधार पर जीवों में भेद मानते हैं, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीव का लक्षण नहीं मानते।

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चांडाल हो, किंतु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं।[२]

जाति के गर्व से गर्वित ब्राह्मण चांडाल मुनि के तपोबल से अभिभूत हो गए। इस दशा का वर्णन करते हुए भगवान महावीर ने कहा–'यह आंखों के सामने है-तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नहीं है। जिसकी योग विभूति और सामर्थ्य अचंभे में डालनेवाली है, वह हरिकेश मुनि चांडाल का पुत्र है।'[३]

जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसका फलित यह होता है, जो असत्य का आचरण नहीं करते, वे नीच नहीं हैं।[४]

श्रमण का उपासक हर कोई बन सकता है। उसके लिए जाति का बंधन नहीं है। श्रावक के सिर में मणि जड़ा हुआ नहीं होता। जो अहिंसा-सत्य का आचरण करता है, वही श्रावक है, भले फिर वह शूद्र हो या ब्राह्मण।

---

१. परमात्मप्रकाश १०२ : देहविभेयइं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु।
सो ण वि लक्खणु मुणइ तहं दंसणुणाणुचरितु॥

२. पद्मपुराण ११/२०३ : व्रतस्थमपि–चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

३. उत्तरज्झयणाणि १२/३७ : सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

४. १. प्रश्नव्याकरण २. आश्रवद्वार।

5. जैन दर्शन : वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में

दर्शन के सत्य ध्रुव होते हैं। उनकी अपेक्षा त्रैकालिक होती है। मानव जाति की कुछ समस्याएं बनती-मिटती रहती हैं, किंतु कुछ समस्याएं मौलिक होती हैं। वार्तमानिक समस्या के समाधान का दायित्व दर्शन पर होता है, पर मूलतः दर्शन उन समस्याओं का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओं को उत्पन्न भी करती हैं।

वैषम्य एक समस्या है। उसका कारण है–समत्व के दृष्टिकोण का अविकास। भगवान महावीर ने साम्य का जो स्वर उद्‌बुद्ध किया, वह आज भी मननीय है। भगवान ने कहा–'प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों, सर्व भूतों, सर्व जीवों और सर्व सत्त्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशांतिकर है।"

'जैसे मुझे कोई बेंत, हड्‌डी, मुष्टि, कंकर, ठीकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, तर्जित करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है–यह सोचकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उन्हें परिताप नहीं पहुंचाना चाहिए, उन्हें उद्विग्न नहीं करना चाहिए।'[१]

इस साम्य-दर्शन के पीछे शक्ति का तंत्र नहीं है, इसलिए यह समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। समूचा विश्व अहिंसा या साम्य की चर्चा कर रहा है। इस संस्कार की पृष्ठभूमि में जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। कायिक और मानसिक अहिंसा और उसकी वैयक्तिक और सामाजिक साधना का सुव्यवस्थित रूप जैन तीर्थंकरों ने दिया, वह इतिहास द्वारा भी अभिमत है।

सब जीव समान हैं

बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी जीवों का भीतरी जगत एक-जैसा है। इसे समझ लेने पर समत्व का आधार पुष्ट हो जाता है। समानता के विभिन्न दृष्टिकोण ये हैं–

(क) परिमाण की दृष्टि से–जीवों के शरीर भले छोटे हों या बड़े, आत्मा सबमें समान है। चींटी और हाथी–दोनों की आत्मा समान है।

---

१. सूयगडो २/१/१५।

भगवान ने कहा–'गौतम! चार वस्तुएं समतुल्य हैं–आकाश (लोकाकाश), गति सहायक तत्त्व (धर्म), स्थिति सहायक तत्त्व (अधर्म) और एक जीव। इन चारों के अवयव बराबर हैं। तीन व्यापक हैं। जीव कर्म शरीर से बंधा हुआ रहता है, इसलिए वह व्यापक नहीं बन सकता। उसका परिमाण शरीर व्यापी होता है। शरीर मनुष्य, पशु, पक्षी–इन जातियों के अनुरूप होता है। शरीर भेद के कारण प्रसरण भेद होने पर भी जीव के मौलिक परिमाण में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। इसलिए परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ख) ज्ञान की दृष्टि से–मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों का ज्ञान सबसे कम विकसित होता है। ये एकेन्द्रिय हैं। इन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। इनकी शारीरिक दशा दयनीय होती है। इन्हें छूने मात्र से अपार कष्ट होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पंचेन्द्रिय, समनस्क पंचेन्द्रिय–ये जीवों के क्रमिक विकासशील वर्ग हैं। ज्ञान का विकास सब जीवों में समान नहीं होता, किंतु ज्ञान शक्ति सब जीवों में समान होती है। प्राणिमात्र में अनंत ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान सामर्थ्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ग) वीर्य की दृष्टि से–कई जीव प्रचुर उत्साह और क्रियात्मक वीर्य से संपन्न होते हैं तो कई उनके धनी नहीं होते। शारीरिक तथा पारिपार्श्विक साधनों की न्यूनाधिकता और उच्चावचता के कारण ऐसा होता है। आत्म वीर्य या योग्यतात्मक वीर्य में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता, इसलिए योग्यतात्मक वीर्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(घ) अपौद्गलिकता की दृष्टि से–किन्हीं का शरीर सुंदर, जन्मस्थान पवित्र और व्यक्तित्व आकर्षक होता है और किन्हीं का इसके विपरीत होता है। कई जीव लंबा जीवन जीते हैं, कई छोटा, कई यश पाते हैं और कई नहीं पाते या कुयश पाते हैं, कई उच्च कहलाते हैं और कई नीच, कई सुख की अनुभूति करते हैं और कई दुःख की। ये सब पौद्गलिक उपकरण हैं। जीव अपौद्गलिक है, इसलिए अपौद्गलिकता की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ङ) निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से–कई व्यक्ति हिंसा करते हैं, कई नहीं करते, कई झूठ बोलते हैं, कई नहीं बोलते, कई चोरी और संग्रह करते हैं, कई नहीं करते, कई वासना में फंसते हैं-कई नहीं फंसते। इस वैषम्य का कारण मोह (मोहक-पुद्गलों) का उदय और अनुदय है। मोह के उदय से व्यक्ति में विकार आता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह–ये विकार (विभाव) हैं। मोह के अनुदय से व्यक्ति स्वभाव में रहता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–यह स्वभाव है। विकार औपाधिक होता है। निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(च) स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से–आत्मा परमात्मा है। पौद्गलिक उपाधियों से बंधा हुआ जीव संसारी आत्मा है। उनसे मुक्त जीव परमात्मा है। परमात्मा के आठ लक्षण हैं–

१. अनंत ज्ञान २. अनंत दर्शन ३. अनंत आनंद ४. अनंत पवित्रता ५. अपुनरावर्तन ६. अमूर्तता-अपौद्गलिकता ७. अगुरुलघुता–पूर्ण साम्य ८. अनंत शक्ति।

इन आठों के बीज प्राणिमात्र में समान रूप में होते हैं। विकास का तारतम्य होता है। विकास की दृष्टि से भेद होते हुए भी स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से सब जीव समान हैं।

यह आत्मौपम्य या सर्व जीव समता का सिद्धांत समत्व की आधारशिला है।

सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टिकोण

निरपेक्ष दृष्टि एक समस्या है। उसका समाधान है–सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास।

सापेक्ष दृष्टि ध्रुव सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार-सत्य है। हमारा जीवन वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी। इन दोनों कक्षाओं में सापेक्षता की अर्हता है।

सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामंजस्य आता है। उसका परिणाम है मैत्री, शांति और व्यवस्था। निरपेक्ष नीति अवहेलना, तिरस्कार और घृणा पैदा करती है। परिवार, जाति, गांव, राज्य, राष्ट्र और विश्व–ये क्रमिक विकासशील संगठन हैं। संगठन का अर्थ है–सापेक्षता। सापेक्षता का नियम जो दो के लिए है, वही अंतर्राष्ट्रीय जगत के लिए है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व साधता है, वहां असमंजसता खड़ी हो जाती है। उसका परिणाम है–कटुता, संघर्ष और अशांति।

निरपेक्षता के पांच रूप बनते हैं–१. वैयक्तिक २. जातीय ३. सामाजिक ४. राष्ट्रीय ५. अंतर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं–वर्ग भेद, अलगाव, अव्यवस्था, संघर्ष, शक्ति क्षय, युद्ध और अशांति।

सापेक्षता के रूप भी पांच हैं–१. वैयक्तिक २. जातीय ३. सामाजिक ४. राष्ट्रीय ५. अंतर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं–समताप्रधान जीवन, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-संवर्धन, मैत्री और शांति।

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति अकेला ही नहीं आता। वह बंधन के बीज साथ लिए आता है। अपने हाथों उन्हें सींच विशाल वृक्ष बना लेता है। वही निकुंज उसके लिए बंधन गृह बन जाता है। बंधन लादे जाते हैं, यह तात्कालिक सत्य है। स्थायी सत्य यह है कि बंधन स्वयं विकसित किए जाते हैं।

उन्हीं के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुड़कर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेद रेखा खींचना सरल कार्य नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति ही है। सब स्थितियों में वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है।

पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है, वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आंतरिक क्षेत्र वैयक्तिक है। वह उससे जितना बाहर जाता है, उतना ही सामुदायिक बनता चलता है।

व्यक्ति को समाज निरपेक्ष और समाज को व्यक्ति निरपेक्ष मानना एकांत पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनों की स्थिति असमंजसपूर्ण बनती है।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है, व्यक्ति मुख्य।

इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मथनी के रूपक में चित्रित किया है। मंथन के समय एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। दूसरा आगे आता है, पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह (मक्खन) मिलता है। एकांत आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

अंतर्राष्ट्रीय निरपेक्षता

बहुता और अल्पता, व्यक्ति और समूह के ऐकांतिक आग्रह पर असंतुलन बढ़ता है, सामंजस्य की कड़ी टूट जाती है।

अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम हित—यह जो सामाजिक उपयोगिता का सिद्धांत है, वह निरपेक्ष-नीति पर आधारित है। इसी के आधार पर हिटलर ने यहूदियों पर मनमाना अत्याचार किया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों के हितों का बलिदान करने के सिद्धांत का औचित्य निरपेक्ष दृष्टिकोण की देन है।

सामंतवादी युग में बड़ों के लिए छोटों के हितों का त्याग उचित माना जाता था। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़े राष्ट्रों के लिए छोटे राष्ट्रों की उपेक्षा आज भी होती है। यह अशांति का हेतु बनता है। सापेक्ष-नीति के अनुसार किसी के लिए भी किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को नगण्य मान उन्हें आगे आने का अवसर नहीं देते। इस निरपेक्ष-नीति की प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप छोटे राष्ट्रों में बड़ों के प्रति अस्नेह-भाव उत्पन्न हो जाता है। वे संगठित हो उन्हें गिराने की सोचते हैं। घृणा के प्रति घृणा और तिरस्कार के प्रति तिरस्कार तीव्र हो उठता है।

मैत्री की पृष्ठभूमि सत्य है। वह ध्रुवता और परिवर्तन दोनों के साथ जुड़ा हुआ है। अपरिवर्तन जितना सत्य है, उतना ही सत्य है परिवर्तन। जो अपरिवर्तन को नहीं जानता, वह चक्षुष्मान नहीं हैं, वैसे ही वह भी चक्षुष्मान नहीं है, जो परिवर्तन को नहीं समझता।

वस्तुएं बदलती हैं। क्षेत्र बदलता है। काल बदलता है। विचार बदलते हैं। इनके साथ स्थितियां बदलती हैं। बदलते सत्य को जो पकड़ लेता है, वह सामंजस्य की तुला में चढ़ दूसरों का साथी बन जाता है।

समय-समय पर हुई राज्यक्रांतियों ने राज्यसत्ताओं को बदल डाला। राज्य की सीमाएं बदलती रही हैं। शासन काल बदलता रहा है। शासन की पद्धतियां भी बदलती रही हैं। इन परिवर्तनों का मूल्यांकन करनेवाले ही अशांति को टाल सकते हैं।

भेदात्मक प्रवृत्तियों के ऐकांतिक आग्रह से अखंडता का नाश होता है। अभेदात्मक वृत्ति के एकांत आग्रह से खंड की वास्तविकता और उपयोगिता का लोप होता है।

व्यष्टि और समष्टि तथा अपरिवर्तन और परिवर्तन के समन्वय से व्यवहार का सामंजस्य और व्यवस्था का संतुलन होता है, वह इनके असमन्वय में नहीं होता।

समन्वय की दिशा में प्रगति

समन्वय का सिद्धांत जैसे विश्व-व्यवस्था से संबद्ध है, वैसे ही व्यवहार और उपयोगिता से भी संबद्ध है। विश्व-व्यवस्था में जो सहज सामंजस्य है, उसका हेतु उसी में निहित है। वह है–प्रत्येक पदार्थ में विभिन्नता और समता का सहज समन्वय। यही कारण है कि सभी पदार्थ अपनी स्थिति में क्रियाशील रहते हैं। उपयोगिता के क्षेत्र में सहज समन्वय नहीं है, इसलिए वहां सहज सामंजस्य भी नहीं है। असामंजस्य का कारण एकांत बुद्धि और एकांत बुद्धि का कारण पक्षपातपूर्ण बुद्धि है।

'स्व' और 'पर' का भेद तीव्र होता है, तब तटस्थवृत्ति क्षीण हो जाती है। हिंसा का मूल यही है।

अहिंसा की जड़ है–मध्यस्थ वृत्ति, लाभ और अलाभ में वृत्तियों का संतुलन।

'स्व' के उत्कर्ष में 'पर' की हीनता का प्रतिबिंब होता है। 'पर' के उत्कर्ष में 'स्व' की हीनता की अनुभूति होती है। ये दोनों ही एकांतवाद हैं।

एक जाति या राष्ट्र दूसरी जाति या राष्ट्र पर हावी हुआ या होता है, वह इसी एकांतवाद की प्रतिच्छाया है।

'पर' के जागरण काल में 'स्व' के उत्कर्ष का पारा ऊंचा चढ़ा नहीं रह सकता। वहां दोनों मध्य रेखा पर आ जाते हैं। उनका दृष्टिकोण सापेक्ष बन जाता है।

आज की राजनीति सापेक्षता की दिशा में गति कर रही है। कहना चाहिए, विश्व का मानस अनेकांत को समझ रहा है और व्यवहार में उतार रहा है।

इस दशक का मानस समन्वय की रेखा को और स्पष्ट खींच रहा है।

भगवान महावीर का दार्शनिक मध्यम मार्ग ज्ञात-अज्ञात रूप में विकसित हो रहा है।

सापेक्षता के सूत्र

१. कोई भी वस्तु और वस्तु-व्यवस्था स्याद्वाद या सापेक्षवाद की मर्यादा से बाहर नहीं है।

२. दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं। उनमें सहानवस्थान (एक साथ न टिक सके) जैसा विरोध नहीं है।

३. जितने वचन प्रकार हैं, उतने ही नय हैं।

४. ये विशाल ज्ञानसागर के अंश हैं।

५. ये अपनी-अपनी सीमा में सत्य हैं।

६. दूसरे पक्ष में सापेक्ष हैं तभी सत्य हैं।

७. दूसरे पक्ष की सत्ता में हस्तक्षेप, अवहेलना और आक्रमण करते हैं, तब वे असत्य बन जाते हैं।

८. सब दृष्टिकोण परस्पर में विरोधी हैं–पूर्ण साम्य नहीं हैं, किंतु सापेक्ष हैं, एकत्व की नाड़ी से जुड़े हुए हैं, इसलिए वे अविरोधी सत्य के साधक हैं। क्या संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण

का यह आधारभूत सत्य नहीं है, जहां विरोधी राष्ट्र भी एकत्रित होकर विरोध का परिहार करने का यत्न करते हैं?

९. एकांत अविरोध और एकांत विरोध से पदार्थ-व्यवस्था नहीं होती। व्यवस्था की व्याख्या अविरोध और विरोध की सापेक्षता द्वारा की जा सकती है।

१०. जितने एकांतवाद या निरपेक्षवाद हैं, ये सब दोषों से भरे पड़े हैं।

११. ये परस्पर ध्वंसी हैं–एक-दूसरे का विनाश करनेवाले हैं।

१२. स्याद्वाद और नयवाद में अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता–ये सामंजस्यकारक सिद्धांत हैं।

इनका व्यावहारिक उपयोग भी असंतुलन को मिटाने वाला है।

सांप्रदायिक सापेक्षता

धार्मिक क्षेत्र भी संप्रदायों की विविधता के कारण असामंजस्य की रंगभूमि बना हुआ है।

समन्वय का पहला प्रयोग वहां होना चाहिए। समन्वय का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा ही धर्म है। धर्म का ध्वंसक कीटाणु है–सांप्रदायिक आवेश।

आचार्यश्री तुलसी द्वारा सन् १९५४ में मुम्बई में प्रस्तुत सांप्रदायिक एकता के पांच व्रत इस अभिनिवेश के नियंत्रण का सरल आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार हैं–

१. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाएं।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे संप्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

सामंजस्य का आधार–मध्यम मार्ग

भेद और अभेद–ये हमारी स्वतंत्र चेतना, स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र सत्ता के प्रतीक हैं। इसलिए इन्हें अविरोध या विरोध का साधन नहीं बनाना चाहिए। भेद भी अविरोध का साधन बने–यही समन्वय से प्रतिफलित साधना का स्वरूप है। यही है अहिंसा, मध्यस्थवृत्ति, तटस्थ नीति या साम्य योग।

जाति, रंग और वर्ग के भेदों को लेकर जो संघर्ष चल रहे हैं, उनका आधार विषम मनोवृत्ति है। उसके बीज की उर्वर भूमि एकांतवाद है। निरंकुश ऐकाधिपत्य और अराजकता–ये

दोनों ही एकांतवाद हैं। वाणी, विचार, लेख और मान्यता का नियंत्रण स्वतंत्र व्यक्तित्व का अपहरण है।

अराजकता में समूचा जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। सामंजस्य की रेखा इनके बीच में है। व्यक्ति अकेलेपन और समुदाय के मध्य बिंदु पर जीता है। इसलिए इसके सामंजस्य का आधार मध्यम मार्ग ही हो सकता है।

शांति और समन्वय

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ मूल्यों के द्वारा ही शांति का अर्जन और उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तुस्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है।

पूर्व मान्यता या रूढ़ि के कारण कुछ व्यक्ति या राष्ट्र स्थिति का यथार्थ मूल्य नहीं आंकते या आंकना नहीं चाहते-वे अतीतदर्शी हैं।

अतीत दर्शन के आधार पर वर्तमान (ऋजुसूत्र नय) की अवहेलना करना निरपेक्ष-नीति है। इसका परिणाम है–असामंजस्य।

यह असंदिग्ध सत्य है कि शक्ति-प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्‌भावना का अंत और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिंसा में निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नहीं सूझती। समन्वय और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं। शांति से समन्वय और समन्वय से शांति होती है।

सह-अस्तित्व की धारा

प्रभु-सत्ता की दृष्टि से सब स्वतंत्र राष्ट्र समान हैं, किंतु सामर्थ्य की दृष्टि से सब समान नहीं भी हैं। समृद्धि का कोई न कोई भाग सभी को मिला है। सामर्थ्य की विभिन्न कक्षाएं बंटी हुई हैं। सब पर किसी एक की प्रभु-सत्ता नहीं है। एक-दूसरे में पूर्ण साम्य और वैषम्य भी नहीं है। कुछ साम्य और कुछ वैषम्य से वंचित भी कोई नहीं है। इसलिए कोई किसी को मिटा भी नहीं सकता और मिट भी नहीं सकता। वैषम्य को ही प्रधान मान जो दूसरे को मिटाने की सोचता है, वह वैषम्यवादी नीति के एकांतीकरण द्वारा असामंजस्य की स्थिति पैदा कर सकता है।

साम्य को ही एकमात्र प्रधान मानना भी साम्यवादी नीति का ऐकांतिक आग्रह है। दोनों के ऐकांतिक आग्रह के परिणामस्वरूप ही शीत युद्ध का वातावरण प्रबल होता है।

विरोधी युगलों के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान महावीर ने कहा– नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल एक साथ ही रहते हैं। जिस पदार्थ में कुछ गुणों की अस्तिता है, उसमें कुछ की नास्तिता है। यह अस्तिता और नास्तिता एक ही पदार्थ के दो विरोधी, किंतु सह–अवस्थित धर्म हैं।

सहावस्थान विश्व की विराट व्यवस्था का अंग है। यह जैसे पदार्थाश्रित है, वैसे ही व्यवहाराश्रित है। साम्यवादी और जनतंत्री राष्ट्र एक साथ जी सकते हैं–राजनीति के रंगमंच पर यह घोष बलशाली बन रहा है। यह समन्वय के दर्शन का जीवन व्यवहार में पड़ने वाला प्रतिबिंब है।

वैयक्तिकता, जातीयता, सामाजिकता, प्रांतीयता और राष्ट्रीयता–ये निरपेक्ष रूप में बढ़ते हैं, तब असामंजस्य के लिए ही बढ़ते हैं।

व्यक्ति और सत्ता दोनों भिन्न ही हैं, यह दोनों के संबंध की अवहेलना है।

व्यक्ति ही तत्त्व है–यह राज्य की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार है। राज्य ही तत्त्व है–यह व्यक्ति की सत्ता का तिरस्कार है। सरकार ही तत्त्व है–यह स्थायी तत्त्व–जनता का तिरस्कार है। जहां तिरस्कार है, वहां निरपेक्षता है। जहां निरपेक्षता है, वहां असत्य है। असत्य की भूमिका पर सह-अस्तित्व का सिद्धांत पनप नहीं सकता।

सह-अस्तित्व का आधार–संयम

सह-अस्तित्व का सिद्धांत राजनयिकों ने भी समझा है। राष्ट्रों के आपसी संबंध का आधार जो कूटनीति था, वह बदलने लगा है। उसका स्थान सह-अस्तित्व ने लिया है। अब समस्याओं का समाधान इसी को आधार मान खोजा जाने लगा है, किंतु अभी एक मंजिल और पार करनी है।

दूसरों के स्वत्व को आत्मसात करने की भावना त्यागे बिना सह अस्तित्व का सिद्धांत सफल नहीं होता। स्याद्वाद की भाषा में–स्वयं की सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही दूसरे पदार्थों की असत्ता भी उसका गुण है। स्वापेक्षा से सत्ता और परापेक्षा से असत्ता–ये दोनों गुण पदार्थ की स्वतंत्र-व्यवस्था के हेतु हैं। स्वापेक्षया सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही परापेक्षया असत्ता उसका गुण नहीं होता तो द्वैत होता ही नहीं। द्वैत का आधार स्व गुण सत्ता और पर गुण असत्ता का सहावस्थान है।

सह-अस्तित्व में विरोध तभी आता है, जब एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र दूसरे व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं। यह आक्रामक नीति ही सह-अस्तित्व की बाधा है। अपने से भिन्न वस्तु के स्वत्व का निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। स्व के आरोप में एक विचित्र प्रकार का मानसिक झुकाव होता है। वह सत्य पर आवरण डाल देता है। सत्ता-शक्ति या अधिकार–विस्तार की भावना के पीछे यही तत्त्व सक्रिय होता है।

स्वत्व की मर्यादा

आंतरिक क्षेत्र में व्यक्ति की अनुभूतियां और अंतर का आलोक ही उसका 'स्व' है।

बाहरी संबंधों में 'स्व' की मर्यादा जटिल बनती है। दूसरों के स्वत्व या अधिकारों का हरण 'स्व' नहीं– यह अस्पष्ट नहीं है। संघर्ष या अशांति का मूल दूसरों के 'स्व' का अपहरण ही है।

युग भावना के साथ-साथ 'स्व' की मर्यादा भी बदलती है। उसे समझने वाला मर्यादित हो जाता है। वह संघर्ष की चिंगारी नहीं उछालता। रूढ़िपरक लोग 'स्व' की शाश्वत स्थिति से चिपके बैठे रहते हैं। वे अशांति पैदा करते हैं।

बाहरी संबंधों में 'स्व' की मर्यादा शाश्वत या स्थिर हो भी नहीं सकती, इसलिए भावना-परिवर्तन के साथ-साथ स्वयं को बदलना भी जरूरी हो जाता है। बाहर से सिमटकर अधिकारों

में आना शांति का सर्वप्रधान सूत्र है। उसमें खतरा है ही नहीं। इस जन-जागरण के युग में उपनिवेशवाद, सामंतवाद और एकाधिकारवाद मिटते जा रहे हैं। विचारशील व्यक्ति और राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने अपने विशाल रूप को छोड़ अपने रूप में सिमटते जा रहे हैं। यह सामंजस्य की रेखा है।

वर्ग विग्रह और अंतर्राष्ट्रीय विग्रह की समापन रेखा भी यही है। इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि आज का विश्व व्यावहारिक समन्वय की दिशा में प्रगति कर रहा है।

निष्कर्ष

शांति का आधार व्यवस्था है।

व्यवस्था का आधार सह-अस्तित्व है।

सह-अस्तित्व का आधार समन्वय है।

समन्वय का आधार सत्य है।

सत्य का आधार अभय है।

अभय का आधार अहिंसा है।

अहिंसा का आधार अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का आधार संयम है।

असंयम से संग्रह, संग्रह से हिंसा, हिंसा से भय, भय से असत्य, असत्य से संघर्ष, संघर्ष से अधिकार-हरण, अधिकार-हरण से अव्यवस्था, अव्यवस्था से अशांति होती है।

दूसरों के 'स्वत्व' पर अपना अधिकार करना आक्रमण है। पारस्परिक विरोध और ध्वंस का हेतु यही है।

अपरिवर्तित सत्य की दृष्टि से परिवर्तन अवस्तु है। परिवर्तित-सत्य की दृष्टि से अपरिवर्तन अवस्तु है। यह अपनी-अपनी विषय-मर्यादा है, किंतु अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों निरपेक्ष नहीं हैं।

अपरिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय परिवर्तन गौण अवश्य होगा, किंतु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय अपरिवर्तन गौण अवश्य होगा, किंतु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

निरपेक्ष दृष्टिकोण

१. व्यक्ति और समुदाय दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं–यह वस्तु स्थिति का तिरस्कार है। यह ऐकांतिक पार्थक्यवादी नीति है।

२. समुदाय ही सत्य है–यह व्यक्ति का तिरस्कार है। यह ऐकांतिक समुदायवादी नीति है।

३. व्यक्ति ही सत्य है–यह समुदाय का तिरस्कार है। यह ऐकांतिक व्यक्तिवादी नीति है।

४. वर्तमान ही सत्य है–यह अतीत और भविष्य, अपरिवर्तन या एकता का तिरस्कार है। यह ऐकांतिक परिवर्तनवादी नीति है।

५. लिंग भेद ही सत्य है–यह भी एकता का तिरस्कार है।

६. उत्पत्ति भेद ही सत्य है–यह भी एकता का तिरस्कार है।

७. क्रियाकाल ही सत्य है–यह भी एकता का तिरस्कार है।

निरपेक्षदृष्टि का त्याग ही समाज को शांति की ओर अग्रसर कर सकता है।